नैपाल

नेपाल-यात्रा

[२१ चित्रों-सहित]

[illegible]

लेखक

त्रिपिटकाचार्य भिक्षु धर्मरक्षित

—:*०*:—

मिलने का पता—

गंगा-ग्रंथागार

३६, गौतम बुद्ध-मार्ग

लखनऊ

सन् १९५३ ई०

[मूल्य ४॥)

प्रकाशक
श्रीदुलारेलाल
अध्यक्ष गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय
लखनऊ

अन्य प्राप्ति-स्थान—

1. भारती-भाषा-भवन, ३८१०, चर्खेवालाँ, दिल्ली
2. राष्ट्रीय प्रकाशन-मंडल, मछुआ-टोली, पटना
3. प्रयाग-ग्रंथागार, ४०, कास्थवेट रोड, प्रयाग

नोट—इनके अलावा हमारी सब पुस्तकें हिंदुस्थान-भर के प्रधान बुकसेलरों के यहाँ मिलती हैं। जिन बुकसेलरों के यहाँ न मिलें, उनका नाम-पता हमें लिखें।

मुद्रक
श्रीदुलारेलाल
अध्यक्ष गंगा-फ़ाइनआर्ट-प्रेस
लखनऊ

निवेदन

यह यात्रा बहुत संक्षेप में लिखी गई है, किंतु इसका ध्यान रक्खा गया है कि नेपाल के इतिहास, राजनीति, सभ्यता, संस्कृति, समाज आदि का पूर्ण रूप से उल्लेख हो जाय। यद्यपि नेपाल भारत का पड़ोसी देश है, तथापि बहुत थोड़े भारतवासी उसके संबंध में पूर्ण जानकारी रखते हैं। भारतीय भाषाओं में—विशेषकर हिंदी में—नेपाल-संबंधी ग्रंथों के अभाव को देखकर ही यह 'यात्रा' लिखी गई है।

आशा है, पाठक 'लंका-यात्रा' की भाँति इसे भी अपनाएँगे।

बिड़ला-धर्मशाला
सारनाथ
१।१२।४८

धर्मरक्षित

निवेदन

यह यात्रा बहुत संक्षेप में लिखी गई है, किंतु इसका ध्यान रक्खा गया है कि नेपाल के इतिहास, राजनीति, सभ्यता, संस्कृति, समाज आदि का पूर्ण रूप से उल्लेख हो जाय। यद्यपि नेपाल भारत का पड़ोसी देश है, तथापि बहुत थोड़े भारतवासी इसके संबंध में पूर्ण जानकारी रखते हैं। भारतीय भाषाओं में—विशेषकर हिंदी में—नेपाल-संबंधी ग्रंथों के अभाव को देखकर ही यह 'यात्रा' लिखी गई है।

आशा है, पाठक 'लंका-यात्रा' की भाँति इसे भी अपनाएँगे।

बिड़ला-धर्मशाला
सारनाथ
१।१२।४८

धर्मरक्षित

नेपाल-यात्रा

[२१ चित्रों-सहित]

[illegible]

लेखक

त्रिपिटकाचार्य भिक्षु धर्मरक्षित

मिलने का पता—

गंगा-ग्रंथागार

३६, गौतम बुद्ध-मार्ग

लखनऊ

म बार]   सन् १९५३ ई०   [मूल्य ४॥)

प्रकाशक
श्रीदुलारेलाल
अध्यक्ष गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय
लखनऊ

अन्य प्राप्ति-स्थान—

१. भारती-भाषा-भवन, २८१०, चर्खेवालाँ, दिल्ली
२. राष्ट्रीय प्रकाशन-मंडल, मछुआ-टोली, पटना
३. प्रयाग-ग्रंथागार, ५०, कास्थवेट रोड, प्रयाग

नोट—इनके अलावा हमारी सब पुस्तकें हिंदुस्थान-भर के प्रधान बुकसेलरों के यहाँ मिलती हैं। जिन बुकसेलरों के यहाँ न मिलें, उनका नाम-पता हमें लिखें।

मुद्रक
श्रीदुलारेलाल
अध्यक्ष गंगा-फाइनआर्ट-प्रेस
लखनऊ

निवेदन

यह यात्रा बहुत संक्षेप में लिखी गई है, किंतु इसका ध्यान रक्खा गया है कि नेपाल के इतिहास, राजनीति, सभ्यता, संस्कृति, समाज आदि का पूर्ण रूप से उल्लेख हो जाय। यद्यपि नेपाल भारत का पड़ोसी देश है, तथापि बहुत थोड़े भारतवासी उसके संबंध में पूर्ण जानकारी रखते हैं। भारतीय भाषाओं में—विशेषकर हिंदी में—नेपाल-संबंधी ग्रंथों के अभाव को देख-कर ही यह 'यात्रा' लिखी गई है।

आशा है, पाठक 'लंका-यात्रा' की भाँति इसे भी अपनाएँगे।

बिड़ला-धर्मशाला
सारनाथ
१।१२।४८

धर्मरक्षित

विषय-सूची

पृष्ठ

नेपाल-यात्रा

नेपाल-यात्रा

तैयारी

वैशाख का महीना था। नौ बज रहे थे। कसया की सड़कें सदा की भाँति धूल उड़ा रही थीं। गँजेड़ी की दूकान बंद थी, किंतु काग़ज़, पेंसिल के लिये छात्रों की भीड़ पहले से ही आ जुटी थी। सन् ३६ की मिडिल-स्कूलों की परीक्षाएँ प्रारंभ होनेवाली थीं। सामनेवाले पुल पर, आम की शीतल छाया में, विचार-मग्न बैठे हुए—

"संसार कैसा नाशवान् है। सभी लोग उत्पन्न होकर मर जाते हैं। कोई भी हमेशा ज़िंदा नहीं रहता। यद्यपि सब लोग इसे जानते हैं, तथापि किसी का भी मन धर्म की ओर नहीं झुकता। कोई भी तपस्या करना नहीं चाहता। हम लोग पढ़-लिखकर भी यदि तपस्या न करेंगे, तो दूसरों की क्या बात?" मैंने कहा।

"तो चलिए, हम दोनो तपस्या करने के लिये निकल चलें।" रामधनीसिंह ने सहानुभूति-भरे स्वर में कहा।

"कहाँ चलोगे भाई?"

"विंध्याचल की ओर।"

"विंध्याचल दूर और बहुत गर्म प्रदेश में है। उधर भोजन आदि की भी दिक़्क़त होगी।"

"तब?"

"मैंने ग्रंथों में पढ़ा है कि हिमालय तपस्वियों का घर है, वहाँ तपस्या शीघ्र पूरी हो जाती है। खाने-पीने के लिये अनेक प्रकार के फल-मूल मिलते हैं। प्रातःकाल हिमालय की बर्फ़ से ढकी

त्रा

लेखक का प्रथम साथी
श्रीरामधनीसिंह

लेखक का प्रथम छा॰
श्रीरामधनीसिंह

तैयारी

वैशाख का महीना था। नौ बज रहे थे। कसया की सड़कें सदा की भाँति धूल उड़ा रही थीं। गँजेड़ी की दूकान बंद थी, किंतु कागज़, पेंसिल के लिये छात्रों की भीड़ पहले से ही आ जुटी थी। सन् १९ की मिडिल-स्कूलों की परीक्षाएँ प्रारंभ होनेवाली थीं। सामनेवाले पुल पर, आम की शीतल छाया में, विचार-मग्न बैठे हुए—

"संसार कैसा नाशवान् है। सभी लोग उत्पन्न होकर मर जाते हैं। कोई भी हमेशा ज़िंदा नहीं रहता। यद्यपि सब लोग इसे जानते हैं, तथापि किसी का भी मन धर्म की ओर नहीं झुकता। कोई भी तपस्या करना नहीं चाहता। हम लोग पढ़-लिखकर भी यदि तपस्या न करेंगे, तो दूसरों की क्या बात?" मैंने कहा।

"तो चलिए, हम दोनो तपस्या करने के लिये निकल चलें।" रामचनीसिंह ने सहानुभूति-भरे स्वर में कहा।

"कहाँ चलोगे भाई?"

"विंध्याचल की ओर।"

"विंध्याचल दूर और बहुत गर्म प्रदेश में है। उधर भोजन आदि की भी दिक़्क़त होगी।"

"तब?"

"मैंने ग्रंथों में पढ़ा है कि हिमालय तपस्वियों का घर है, वहाँ तपस्या शीघ्र पूरी हो जाती है। खाने-पीने के लिये अनेक प्रकार के फल-मूल मिलते हैं। प्रातःकाल हिमालय की बर्फ़ से ढके

हुई चोटियाँ कैसी मनोहर जान पड़ती हैं। चलो, हम उधर ही चलें।"

"किंतु वहाँ के जंगल बाघ, सिंह, सुअर और लकड़बग्घों से भरे होते हैं।"

"कोई चिंता नहीं, वे भी तपस्वियों के मित्र हो जाते हैं।"

"हिमालय किस मार्ग से चलेंगे?"

"हिमालय जाने के लिये अनेक मार्ग हैं। प्रतिवर्ष हिमालय को पार कर तिब्बती, नेपाली, भूटानी और मंगोलियन यहाँ, कुशीनगर में, भगवान् बुद्ध का दर्शन करने आते हैं। यद्यपि हम लोग उन मार्गों को नहीं जानते, तथापि सीधे रामकोला होते चलें। नेपाल पहुँचने पर सबकी जानकारी हो जायगी।"

बात पक्की हो गई। हम दोनों उठे, और अपने-अपने घर गए। मा-बाप के तत्काल स्कूल से वापस आने का कारण पूछने पर भी कुछ न कह घर से निकल पड़े। हम लोगों के पास पहनने की धोतियाँ, लोटा, फरसे, पेंसिल और कविता लिखने के लिये मोटी-मोटी कॉपियाँ थीं। एक गुटका रामायण भी थी। पॉकेट में कुछ रुपए भी थे।

गरमी के दिन थे। धूप कड़ी थी। अतः संध्या को हम दोनों रामकोला पहुँचे। रामकोला कसया से १३ मील उत्तर-पश्चिम पड़ता है। वहाँ एक दूकान पर गए, और कुछ पैसे देकर पूरियाँ खाई। थोड़ी मिठाई भी ख़रीद ली।

रात्रि में सोने के लिये स्टेशन पर जाते समय मन में ये विचार उठने लगे कि हम दोनों के चले जाने पर कल से हमारी खोज होने लगेगी। मा-बाप बहुत कुछ प्रयत्न करने पर भी हमारा पता न पा सकेंगे। कदाचित् वे अनुमान करने लगें कि हम दोनों रामाभार के ताल में डूब मरे, अतः उन्हें पत्र लिख देना चाहिए।

हम लोगों के पास पोस्ट कार्ड या लिफ़ाफ़े तो थे नहीं, डाकखाना भी बंद हो चुका था। अतः कॉपी से पन्ने फाड़े, और पेंसिल से अपने पत्र लिखकर लेटर-बक्स में छोड़ दिए। मैं यह नहीं जानता कि रामधनीसिंह ने अपने पत्र में क्या लिखा था, किंतु मुझे स्मरण है, मेरे पत्र में ये ही पंक्तियाँ थीं—

"पूज्य पिताजी,

श्रीचरणों में सादर अभिवादन।

आज मैंने आपके पूछने पर भी अपने मन की बात नहीं कही थी। डरता था, आप मुझे रोक लेंगे। मैं हृदय से कह रहा हूँ, मुझे माँ, आप और मेरे भाई तथा विशेष रूप से मेरे काका याद आ रहे हैं। इसी प्रकार मैं भी आप लोगों को याद आऊँगा। आप लोग मेरी चिंता न कीजिएगा। मैं उसी हिमालय की ओर जा रहा हूँ, जिसकी आप अनेक कथाएँ मुझे सुना चुके हैं। मेरे साथ एक और भी मेरा मित्र चल रहा है। हम दोनों नेपाल को लाँघकर हिमालय पर तपस्या करेंगे, और तीन वर्ष पश्चात् आकर आप लोगों का दर्शन करेंगे। आपने ही मुझसे कहा था, जो तपस्या करता है, वह स्वयं तो मुक्त होता ही है, उसके कुल की सात पीढ़ी तक के पूर्वज भी तर जाते हैं। इसलिये, मैं समझता हूँ, आपको मेरे लिये चिंता न होगी।

आपका प्यारा पुत्र—

...."

स्टेशन पर जाकर थोड़ी देर तक बैठे, और प्लेटफ़ॉर्म पर चादर बिछाकर सोने की तैयारी करने लगे। तब तक मिठाई की याद आई। हम दोनों लेटे हुए ही मिठाई खाने लगे। इस समय मिठाई खाते-खाते मेरी आँखें डबडबा उठीं। हृदय भर आया। मन में नाना प्रकार के संकल्प-विकल्प होने लगे। मैं सोच रहा था—"मत

[illegible] मैंने हिंदी-मिडिल की परीक्षा पास की, और इस वर्ष उर्दू मिडिल भी पास हो ही जाऊँगा, क्योंकि उर्दू में मैंने अच्छा परचा किया है। क्लास में मेरे समान कोई तेज़ भी तो नहीं था। मेरे मा-बाप मुझे इस विचार से पढ़ा रहे हैं कि मैं पढ़-लिखकर उनका लालन-पालन करूँगा। मेरे काका मुझे बहुत प्यार करते हैं। उन्होंने ही तो मुझे सर्वदा पैसे दिए। मेरे बड़े भाई को महा-दुःख होगा। मा रोते-रोते मर जायगी।"

एक ओर रामधनी भी लेटा हुआ इन्हीं विचारों का शिकार हो रहा था। अभी मैं विचार-मग्न ही था कि रामधनी से नहीं रहा गया। उसने कातर स्वर में, डबडबाई हुई आँखों से देखते हुए, कहा "चलिए, हम दोनों घर लौट चलें।"

"क्यों?" मैंने अपने आँसू पोंछते हुए, हृदय कड़ा करके पूछा।

"मैं सोच रहा हूँ—मेरे मा-बाप मुझे इसलिये पढ़ा रहे हैं कि मैं पढ़कर नौकरी करूँगा, और उन्हें काफ़ी पैसे दूँगा। इस वर्ष मैं हिंदी-मिडिल अवश्य फर्स्ट डिवीज़न में पास होऊँगा, क्योंकि मैंने परचे बहुत ही ठीक किए हैं। गत वर्ष ही मेरा विवाह हुआ है। मेरे ससुर मुझे बहुत मानते हैं। मा भी तो रोते-रोते अंधी हो जायगी।"

"तो क्या तपस्या पूरी हो गई?"

"नहीं। दो वर्ष पश्चात् फिर घर छोड़ दिया जायगा; किंतु आप बड़े हैं, आप पहले घर छोड़कर निकलिएगा। मैं सदा की भाँति आपके पीछे-पीछे चलूँगा। आप इसे सच मानिए।"

"बहुत अच्छा, किंतु तपस्या-हेतु निकलना होगा।" मैंने उस[illegible] ऐंठते हुए कहा।

* * *

धीरे-धीरे नौ वर्ष व्यतीत हो गए। धार्मिक, बौद्धिक और नैतिक विचारों में पृथ्वी और आकाश की दूरी हो गई, किंतु मेरी वह

इच्छा, जो हिमालय जाने और नेपाल देखने की थी, नहीं मिटी।

लंका से आने के पश्चात् नेपाल-यात्रा की कामना और भी प्रबल होती गई। कभी-कभी उस अतीत प्रथम निष्क्रमण का मधुर स्मरण भी हो आता।

भाई धर्मरत्न के साथ १२ नवंबर, ४७ को उस पवित्र स्थान का दर्शन करने के लिये राजगृह गया, जहाँ बुद्ध-काल में मगध-देश की राजधानी थी, जहाँ सर्व-प्रथम भगवान् को विहार-दान मिला था, जहाँ के वेणुवन-महाविहार में तथागत ने पाँच वर्षावास किए थे, जहाँ के पर्वत की सप्तपर्णी गुहा में पाँच सौ अर्हत् भिक्षुओं ने बैठकर प्रथम संगीति की थी, जहाँ भगवान् की धातुओं (अस्थियों) का महानिधान हुआ था, और पीछे जहाँ से पवित्र धातुओं को लेकर महाराज अशोक ने चौरासी हज़ार स्तूपों का निर्माण कराया था।

वहाँ हम लोग बर्मी बौद्ध-विहार में ठहरे हुए थे। भिक्षु ऊ जयंत की नेपाल जाने की प्रबल इच्छा थी। उन्होंने मुझसे कहा, और हम तीनों ने निश्चय किया कि इस वर्ष शिवरात्रि में नेपाल-यात्रा करेंगे।

सारनाथ आने पर नेपाल-देशीय भिक्षु धर्मालोकजी मिले, जो कुछ दिनों तक बुद्ध-गया में रहकर नेपाल जाना चाहते थे। संयोग-वश उन्होंने मुझसे आग्रह भी किया कि मैं इस वर्ष उनके साथ नेपाल जाऊँ। विद्यार्थी-जीवन की हिमालय-दर्शन की इच्छा फिर जाग्रत् हो गई।

वैशाली

भिक्षु धम्मालोकजी ने बुद्ध-गया से लिखा कि इस वर्ष महाशिव-रात्रि ६ मार्च को है। हम लोगों को लगभग एक सप्ताह पूर्व ही चल देना चाहिए। मैंने अपने कई साथियों को पत्र लिखा, और उन्हें भी नेपाल चलने के लिये उत्सुक किया। पं० उदयशंकर शास्त्री यह समाचार पाकर सारनाथ आए, और बात पक्की हो गई।

इधर भाई धर्मरत्न के गुरुजी लंका से भारत तीर्थ-यात्रा के लिये आनेवाले थे, अतः उन्हें नेपाल जाने का विचार छोड़ देना पड़ा।

धम्मालोकजी बुद्ध-गया से आए। उनके साथ दो उपासिकाएँ भी थीं—एक लंका की और दूसरी नेपाल की। हम चारों व्यक्तियों ने पहली मार्च, ४८ को दस बजे सारनाथ से प्रस्थान कर दिया। बनारस-कैंट-स्टेशन पर पं० उदयशंकर शास्त्री के मिलने की बात थी, किन्तु वह दिखाई ही न दिए। इधर गाड़ी सीटी देने लगी। उस समय नागरी-प्रचारिणी तक जाने का समय न था कि मैं जाकर उनसे मिल आऊँ।

नेपाल तक के लिये तो नहीं, केवल वैशाली तक के लिये बर्मी भिक्षु महौषध पंडित अपने उपस्थाक के साथ हम लोगों के साथ हो लिए। वह निकट भविष्य में बर्मा वापस जाना चाहते थे, अतः वैशाली का दर्शन करना उन्हें आवश्यक था।

मैं अभी ३ जनवरी को ही महारानी विजयनगरम् के साथ वैशाली गया था, और भले प्रकार वैशाली-परिदर्शन किया था, किन्तु हमारे धम्मालोकजी की वैशाली-दर्शन की इच्छा थी।

हमारी ट्रेन २ बजे रात्रि में मुज़फ़्फ़रपुर पहुँची; हम लोग ट्रेन से उतरकर वेटिंग रूम में गए, और बिस्तर खोलकर सो रहे। दूसरे दिन प्रातः भोजनोपरांत मोटरकार से वैशाली जाने का विचार हुआ, क्योंकि मोटर बस चार बजे जानेवाली थी। ३०) में मोटरकार तय हो गई, किंतु ड्राइवर ने हम छ व्यक्तियों को ले जाने से इनकार किया। उसकी 'कार' में छ सीटें न थीं।

वैशाली जाने के लिये दो मार्ग हैं, एक हाजीपुर से और दूसरा मुज़फ़्फ़रपुर से। दोनो स्टेशनों से वैशाली २२ मील दूर पड़ती है, और दोनो स्थानों से नित्य वहाँ बसें जाती हैं, किंतु मुज़फ़्फ़रपुर से जाना विशेष सुविधा-जनक है।

हमारी बस सात बजे संध्या को वैशाली पहुँच गई। हाईस्कूल की अतिथिशाला में हम लोग ठहराए गए। वैशाली के प्रगतिशील और उत्साही युवकों ने हमारी बड़ी ख़ातिर की।

अशोक-स्तंभ और कूटागारशाला

दूसरे दिन प्रातःकाल हाथ-मुँह धोकर बस द्वारा कोल्हुआ गए, जहाँ अशोक-स्तंभ है। अशोक-स्तंभ एक बैरागी बाबा की ठाकुर-बाड़ी के भीतर है। इसे लोग 'भीमसेन की लाठी' कहते हैं। यह २१ फ़ीट ९ इंच ऊँचा है। इसका बहुत बड़ा हिस्सा ज़मीन में धँसा हुआ है। जनरल कनिंघम ने १४ फ़ीट की गहराई तक इसे खोदवाया था, और इसे उसी प्रकार चिकना पाया था, जैसा ऊपर है। स्तंभ के ऊपरी भाग में उत्तर दिशा की ओर मुँह करके बैठा हुआ एक साढ़े चार फ़ीट ऊँचा सिंह है। स्तंभ का शिरोभाग घंटानुमा है। सिंह के साथ स्तंभ की पूरी ऊँचाई ३० फ़ीट से भी अधिक है।

विद्वानों का कहना है, यह स्तंभ उसी स्थान पर गड़ा होगा, जहाँ प्राचीन समय में प्रसिद्ध कूटागारशाला थी, जो महावन के

मंदिर थी, जहाँ भगवान् बुद्ध ने कई बार निवास किया था। अट्ठकथा में आता है, महावन स्वयं उत्पन्न हुआ वन था, जो उत्तर में हिमालय और पूर्व में समुद्र तक फैला हुआ था।* कूटागारशाला विहार में रहते समय ही भगवान् ने चूलसच्चक सुत्त, महासच्चक सुत्त, तेविज्जवच्छ सुत्त और महालि सुत्त आदि सूत्रों का उपदेश दिया था। नवकर्म, आसन और अग्रपिंड के लिये योग्य व्यक्ति को बतलाते हुए तित्तिर-जातक कहा था। स्त्री-जाति के लिये यह महावन की कूटागारशाला कितनी पवित्र है, जहाँ सर्वप्रथम भिक्षुणी संघ की सृष्टि हुई थी!

विनयपिटक में आता है कि जब भगवान् कपिलवस्तु के निग्रोधाराम में विहार कर रहे थे, तब उनकी मौसी महाप्रजापती गौतमी वहाँ गई, और स्वयं भी प्रव्रजित होने के लिये आज्ञा माँगी। भगवान् ने यह कहकर इनकार कर दिया—"गौतमी! मत तुझे यह रुचे—स्त्रियाँ तथागत के दिखलाए धर्म में घर से बेघर हो प्रव्रज्या पावें।"

जब भगवान् इच्छानुसार विहार कर वैशाली जा महावन की कूटागारशाला-नामक विहार में विहर रहे थे, तब महाप्रजापती गौतमी केशों को कटाकर, काषाय वस्त्र पहन, बहुत-सी शाक्य स्त्रियों के साथ क्रमशः चलकर वहाँ पहुँची। उसके पैर फूल गए थे, शरीर धूल से भरा हुआ था। वह दुखी-उदास हो, रोती हुई कूटागारशाला के द्वार पर खड़ी हुई। तब आयुष्मान् आनंद उसे आकर खड़ा हुआ देख वहाँ गए, और पूछा—"गौतमी! तू क्यों फूले पैरों, दुखी-उदास हो रोती हुई यहाँ आई है?"

---

* संयुत्तनिकाय अट्ठकथा १,१,४,७

"भंते ! आनंद ! भगवान् इस धर्म में स्त्रियों की प्रव्रज्या के लिये अनुमति नहीं देते ।"

"गौतमी ! तू यहीं रह; मैं भगवान् से प्रार्थना करता हूँ ।"

आयुष्मान् आनंद ने भगवान् के पास जाकर तीन बार प्रार्थना की—"यदि भंते ! प्रव्रजित हो स्त्रियाँ अर्हत् फल को साक्षात् करने योग्य हैं, तो भंते ! यह भगवान् की मौसी महाप्रजापती गौतमी अभिभाविका, पोषिका, क्षीर-दायिका और बहुत उपकारक है; जननी के मरने पर इसने भगवान् को दूध पिलाया । भंते ! अच्छा हो, स्त्रियों को प्रव्रज्या मिले ।"

भगवान् ने दो बार इनकार कर तीसरी बार कहा—"आनंद ! यदि महाप्रजापती गौतमी आठ बड़ी शर्तों को स्वीकार करे, तो उसकी प्रव्रज्या, उपसंपदा हो—

(१) सौ वर्ष की उपसंपदा पाई भिक्षुणी को भी उसी दिन उपसंपन्न भिक्षु के लिये अभिवादन, प्रत्युत्थान, हाथ जोड़ना और सामीचि-कर्म करना होगा ।

(२) धर्म-श्रवण करने के लिये भिक्षुओं के पास जाना होगा ।

(३) प्रति आधे मास पर भिक्षुणी को भिक्षु-संघ से धर्म-श्रवण की प्रार्थना करनी होगी ।

(४) वर्षावास कर चुकने पर भिक्षुणी को दोनों संघों में देखे, सुने, जाने—तीनों स्थानों से प्रवारणा करनी होगी ।

(५) इन बड़ी शर्तों को स्वीकार करनेवाली भिक्षुणी को दोनों संघों में पक्ष-मानता करनी होगी ।

(६) किसी प्रकार भी भिक्षुणी भिक्षु को गाली आदि न दे सकेगी ।

(७) आज से भिक्षुणियों का भिक्षुओं को कुछ कहने का रास्ता बंद हो गया ।

(८) किंतु भिक्षुओं का भिक्षुणियों को कहने का रास्ता खुला है।"

जब आयुष्मान् आनंद ने आकर इन शर्तों को महाप्रजापती गौतमी को सुनाया, तब उसने यह कहते हुए सहर्ष स्वीकार किया—"भंते, आनंद! जैसे शौकीन सिर से नहाए, तरुण स्त्री या पुरुष कमल की माला, जुही की माला या मोतिया की माला को पा दोनों हाथों में ले उसे उत्तम अंग सिर पर रखता है, ऐसे ही भंते! मैं इन आठ शर्तों को स्वीकार करती हूँ।"

भगवान् ने उसकी स्वीकृति जानकर कहा—"आनंद! यदि इस धर्म में स्त्रियाँ प्रव्रज्या न पातीं, तो यह धर्म चिरस्थायी होता। लेकिन आनंद! चूँकि स्त्रियाँ प्रव्रजित हुईं, अब यह चिरस्थायी न होगा, पाँच सौ ही वर्ष ठहरेगा। आनंद! जैसे बहुत स्त्री और थोड़े पुरुषोंवाले कुल चोरों द्वारा नष्ट कर दिए जाते हैं, इसी प्रकार आनंद! जिस धर्म में स्त्रियाँ प्रव्रजित होती हैं, वह चिरस्थायी नहीं होता।......आनंद! जैसे आदमी पानी को रोकने के लिये, बड़े तालाब की रोक-थाम के लिये मेड़ बाँधे, उसी प्रकार मैंने रोक-थाम के लिये भिक्षुणियों के जीवन-भर अनुल्लंघनीय आठ शर्तों को बना दिया है।"

कूटागारशाला में ही भगवान् ने भिक्षुणियों के तमाम नियमों को बतलाया, और यहीं भिक्षुणी-संघ की स्थापना हुई।

भगवान् के परिनिर्वाण के सौ वर्ष बाद इस विहार के रहनेवाले वज्जिपुत्तक (वृज्जि-पुत्र) भिक्षु अधर्मवादी हो गए थे। वे दस विनय-विरुद्ध वस्तुओं का प्रचार करने लगे थे, जिसके कारण सारे भारतवर्ष के भिक्षु संघ में खलबली मच गई थी। और, इस अधर्म को शांत करने के लिये संपूर्ण मध्यदेश से एकत्र होकर अर्हत् भिक्षुओं ने वैशाली के ही वालुकाराम में द्वितीय धर्म-संगीति की थी। उस

धर्म-सम्मेलन में कुल सात सौ अर्हत् भिक्षु सम्मिलित हुए थे, और आयुष्मान् सर्वकामी, आयुष्मान् साढ़, आयुष्मान् क्षुद्रशोभित, आयुष्मान् वार्षभग्रामिक, आयुष्मान् रेवत, आयुष्मान् संभूत शाणवासी, आयुष्मान् यश काकंडपुत्र और आयुष्मान् सुमन की प्रधानता में आठ महीने में वह समाप्त हुआ था। दीपवंश-नामक ग्रंथ में कूटागारशाला में ही संगीति का होना लिखा है*, किंतु विनयपिटक और महावंश में बालुकाराम में होने का वर्णन है।

भगवान् ने अपना पाँचवाँ वर्षावास भी महावन की कूटागार-शाला में ही किया था। अंतिम बार चापाल-चैत्य में आयु-संस्कार को छोड़कर वह यहाँ आए थे, और वैशाली में जितने भिक्षु थे, उन सबको एकत्र कराके कहा था—"भिक्षुओ, मैंने जो धर्म उपदेशा है, तुम अच्छी तरह से सीखकर उसका सेवन करना, भावना करना, बढ़ाना, जिसमें यह धर्म चिरस्थायी हो। बहुजन के हित, सुख के लिये हो।······भिक्षुओ, तुमसे कहता हूँ—सभी संस्कार नाशवान् हैं। प्रमाद-रहित हो अपने जीवन का लक्ष्य संपादन करो। निकट भविष्य में ही, आज से तीन मास बाद, तथागत का परिनिर्वाण होगा।"

भगवान् ने यह कहकर पात्र-चीवर ले वैशाली में भिक्षाटन किया, और भोजनोपरांत नागावलोकन (हाथी की तरह सारे शरीर को घुमाकर देखना) से वैशाली को देखकर कहा—"आनंद! तथागत का यह अंतिम वैशाली दर्शन है।"

---

* "कूटागारसालायेव वेसालियं पुरुत्तमे;
अट्ठमासेहि निट्ठासि दुतियो सङ्गहो अयं।"
(दीपवंश ४, ६८)

किंतु युआन-च्वाङ्* ने भी अशोक-स्तंभ और कूटागारशाला का वर्णन करते हुए लिखा है— 'दक्षिण-पश्चिम में अशोक द्वारा बनवाया हुआ एक स्तूप था, और ५० या ६० फीट ऊँचा पत्थर का एक स्तंभ था, जिसके शिखर पर सिंह अवस्थित था।'

अशोक-स्तंभ बहुत मोटा और विशाल है। जान पड़ता है, इस स्तंभ की स्थापना महाराज अशोक ने प्राचीन कूटागारशाला की याद में की थी। स्तंभ पर अशोककालीन कोई लेख नहीं है। पीछे के लोगों ने इस पर अपना-अपना नाम खोदवाकर अवश्य इसकी सुंदरता को क्षति पहुँचाई है। स्तंभ के ऊपर का सिंह बड़ा ही भला जान पड़ता है।

स्तंभ से थोड़ी दूर उत्तर, ठाकुर-बाड़ी के बाहर, एक ध्वंसित स्तूप है, जिस पर एक मंदिर बना हुआ है। मंदिर में मुकुट, हार और कर्णाभरण पहने हुए मैत्रेय बोधिसत्त्व की मूर्ति है, जो काले पत्थर की बनी है। शिरोभाग के पार्श्व में दो अन्य छोटी-छोटी मूर्तियाँ हैं। इन मूर्तियों के नीचे दो पंक्तियों में यह लेख खुदा हुआ है—

ये धर्म्मा हेतुप्रभवा हेतु तेषान् तथागतो ह्यवदत्
तेषञ्च यो निरोधः एवं वादी महाश्रमणः।

अर्थ—हेतु से उत्पन्न होनेवाले जितने धर्म हैं, उनका हेतु तथागत बतलाते हैं। उनका जो निरोध है, (उसको भी बतलाते हैं)। यही महाश्रमण का वाद है।

प्रधान मूर्ति की वेदी के सामने नागरी लिपि में तीन पंक्तियों का यह लेख है—

(१) ....देयधर्मोयम् प्रवरमहायानयायिनः करणिकोच्छाहः माणिक्य-सुतस्य।

---

* रोमन अक्षरों की भद्दी नक़ल के कारण 'हुएनसांग' कहा जाता है।

(२) यदत्र पुण्यं तद्भवत्वाचार्योपाध्यायमातापितॄन्-पूर्व-
पूर्वंगमम् कृ-

(३) त्वा सकल-सत्त्वराशेरनुत्तर-ज्ञानावाप्तयेति।"

अर्थ—माणिक्य के पुत्र, लेखक और महायान के परम अनुयायी साहि का यह धर्म-दान है। इससे जो पुण्य हुआ है, वह आचार्य उपाध्याय, माता पिता और अपने से लेकर समस्त प्राणिमात्र के अनुत्तर ज्ञान की प्राप्ति के लिये हो।

मूर्ति पर उत्कीर्ण लेख और मूर्ति-कला के सामंजस्य से विदित होता है कि इस मूर्ति का निर्माण पाल-युग में हुआ होगा। आजकल इस बैरागी बाबा और उनके शिष्यों ने ऊर्ध्व पुंड्र से सुशोभित कर वैष्णव मूर्ति बना दिया है।

स्तंभ के दक्षिण ठाकुर-बाड़ी से बाहर एक छोटा-सा पोखर है, जिसे आजकल रामकुंड कहा जाता है। जनरल कनिंघम ने लिखा है—यह वही ह्रद है, जिसका वर्णन श्यूआन्-चुआङ् ने किया है, और जिसके किनारे कूटागारशाला थी। यद्यपि संप्रति कोई भी प्राचीन चिह्न नहीं है, तथापि उन्होंने लिखा है कि यहाँ पूर्व से पश्चिम जानेवाली एक मोटी दीवार पाई गई, जो संभवतः कूटागार-शाला की होगी, जिसकी ईंटें १५॥"×६॥"×२" थीं।

चापाल-चैत्य

अशोक-स्तंभ से एक मील उत्तर-पश्चिम दो ऊँचे स्थान हैं जिसे ग्रामीण लोग भीमसेन का पल्ला कहते हैं। अनुमानतः ये ही चापाल-चैत्य के ध्वंसावशेष हैं। यहीं भगवान् बुद्ध ने, ५४३ ई० पूर्व, माघ की पूर्णिमा के आस-पास, अपना आयु-संस्कार छोड़ा था। उस समय पृथ्वी काँप उठी थी। महाभूचाल हो गया था। देव दुंदुभियाँ बज उठी थीं। आनंद ने जब भूचाल का कारण पूछा, तो उन्होंने अनेक पर्यायों से बतलाते हुए कहा था—"आनंद। आज

से तीन मास बाद तथागत का परिनिर्वाण होगा।" फाहियान ने इसे नगर से ३ ली उत्तर-पश्चिम बतलाया है।

बहुपुत्रक-चैत्य

हम लोग कूटागार-शाला से दक्षिण ओर जानेवाली पगडंडी को पकड़कर बनिया नामक गाँव में आए। 'बनिया'-शब्द को लेकर आज तक सभी विद्वानों ने इसे ही 'वेणु-ग्राम' तथा 'वाणिज्य-ग्राम' प्रमाणित किया है, किन्तु गौर से देखने से यह केवल बहुपुत्रक-चैत्य-मात्र का ही स्थान है। वेणु-ग्राम तो वैशाली के दक्षिण होना चाहिए। मज्झिम-निकाय की अट्ठकथा में आया है—"वेसालिया दक्खिणपस्से अविदूरे वेलुवगामको नाम अत्थि।" अर्थात् वैशाली के दक्षिण पार्श्व में, पास ही में, वेणु-ग्राम है।

बनिया-ग्राम के बाहर जहाँ चौमुखी महादेव मिले हैं, और उनका मंदिर बना हुआ है, वह बुद्ध-काल में बहुपुत्रक-चैत्य था। उस समय वैशाली नगर के बाहर चारों दिशाओं में एक-एक चैत्य था—पूर्व में उदयन-चैत्य, दक्षिण में गौतमक-चैत्य, पश्चिम में सप्ताम्रक-चैत्य और उत्तर में बहुपुत्रक-चैत्य था। दीघनिकाय में आया है कि उस समय अचेल कोरमट्टक वज्जियों के ग्राम में बड़ा ही सम्मानित और यशःप्राप्त था। उसने सात व्रत ग्रहण किए थे—(१) जीवन-भर नंगा रहूँगा, वस्त्र नहीं धारण करूँगा। (२) जीवन-भर ब्रह्मचारी रहूँगा, मैथुन-धर्म का सेवन नहीं करूँगा। (३) जीवन-भर मांस खाकर और सुरा पीकर ही रहूँगा, भात-दाल नहीं खाऊँगा। (४) वैशाली में पूरब की ओर उदयन-नामक चैत्य के आगे न जाऊँगा। (५) दक्षिण में गौतमक-नामक चैत्य के आगे न जाऊँगा। (६) पश्चिम में सप्ताम्रक-नामक चैत्य के आगे न जाऊँगा। (७) उत्तर में बहुपुत्रक-नामक चैत्य के आगे न जाऊँगा।

उक्त चैत्यों में से उदयन-चैत्य का भी पता लग गया है। यह कामनछपरा के बगीचे का चौमुखी महादेव का स्थान ही है। शेष दो चैत्य बसाढ़गाँव से दक्षिण और पश्चिम कुछ दूर होने चाहिए। संभवतः बोधागाँव के आस-पास सप्ताम्रक और परमानंदपुर से कोसा के गुप्त महादेव के मध्य गौतमक-चैत्य रहा होगा।

बहुपुत्रक-चैत्य में भगवान् ने कई बार निवास किया था, और "आनंद! बहुपुत्रक-चैत्य रमणीय है।" कहकर उसकी सुंदरता की प्रशंसा भी की थी।

चकरमदास का संग्रहालय

बनिया-गाँव के दक्षिणी भाग का नाम चकरमदास है। यहाँ एक सुंदर संग्रहालय है, जिसमें वैशाली से प्राप्त पुराने सिक्के, मूर्तियाँ, मिट्टी के पदार्थ, खिलौने, दीवट (दीपाधारी), कमघट (पाखाना-घर का भांड-विशेष), गले में पहनने की मालाएँ, स्तूपाकार प्रस्तर, वेष्टनी, दीपक, अस्त्र आदि संग्रह किए गए हैं। श्रीदीपनारायणसिंह एम्० एल्० ए०, श्रीजगन्नाथप्रसाद साह और श्रीबिजुलीसिंह ने इसकी स्थापना सन् १९४१ में की थी, जो स्तुत्य है। श्रीबिजुलीसिंह ही इसके क्यूरेटर भी हैं।

आवश्यकता है कि संग्रहालय के लिये एक अलग भवन बनवाया जाय, और सुचारु रूप से इसके कार्य को और भी विस्तृत किया जाय।

हम लोग चकरमदास से मंगली और खरौना पोखर को देखते हुए ११ बजे हाईस्कूल लौट आए। हाईस्कूल के प्रधानाध्यापक पं० श्रीनंदीदत्तजी द्विवेदी ने प्रातःकाल से हम लोगों के साथ घूमकर सब स्थानों का दर्शन कराया।

उदयन-चैत्य

भोजनोपरांत हम लोग कामनछपरा गए, जो हाईस्कूल से आध

नाम उल्लेख-पूर्ण है। यहाँ आम के बगीचे में एक कुआँ खोदते समय चौमुखी महादेव की मूर्ति मिली, जो अपने स्थान पर स्थित है। मूर्ति का निचला भाग भूमि में बहुत अधिक धँसा हुआ है। यह काले पत्थर की बनी है। इसे देखते हुए वैशाली के उदयन-चैत्य का महत्त्व और उसके अतीत का इतिहास आँखों के सामने नाचने लगता है। यहाँ श्री भगवान् ने कई बार निवास किया था, और इस चैत्य की रमणीयता की प्रशंसा की थी।

हम लोग बड़ी देर तक शीतल आम की छाया में बैठे रहे, और उसे बार-बार देखकर वैशाली के पूर्व-द्वार के महान् चैत्य उदयन का गुण-गान करते रहे।

प्राचीन नगर

यहाँ से हम लोग पीछे लौटे, और राजा विशाल के गढ़ की ओर चले। यह बसाढ़गाँव के पास उत्तर ओर लगभग एक मील के घेरे में फैला हुआ है। पुरातत्त्व-मनीषियों का कथन है कि यहीं वैशाली का प्राचीन नगर था। सन् १९०३-४ में, जब दूसरी बार डॉ० ब्लाश ने इसकी खोदाई कराई थी, एक बहुत महत्त्व-पूर्ण मुहर मिली थी, जिस पर "वेसाली अनु......ट.... ..कारे सयानक" अर्थात् "वैशाली का दौरा करनेवाला अफ़सर" लिखा हुआ था। उससे पूर्ण रूप से निश्चित हो गया है कि राजा विशाल का गढ़ ही वैशाली की प्राचीन राजधानी है।

यद्यपि इसकी पूर्णतया खोदाई नहीं हुई है, फिर भी यहाँ से जो लेख प्राप्त हुए हैं, उनसे इसका प्राचीन इतिहास बहुत कुछ स्पष्ट हो चुका है।

वैशाली नगर का वह दिन कैसा सुहावना रहा होगा, जब इसकी जन-संख्या की वृद्धि के कारण नगर का प्राकार तीन बार बढ़ाना पड़ा था। कहते हैं, नगर-प्राकार को तीन बार विशाल करने के

वैशाली
का
बावन पोखर

वैशाली
का
अशोक-स्तंभ
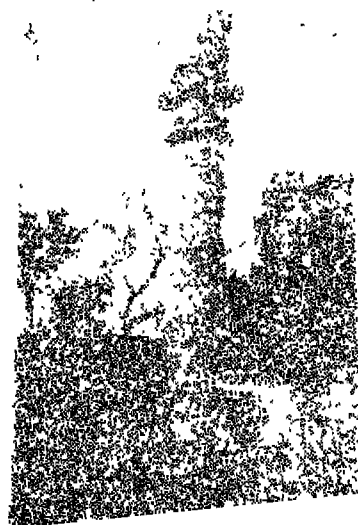
इसी कारण इसका वैशाली नाम पड़ा था*। विनय-पिटक के महावग्ग में आया है—"उस समय वैशाली समृद्धिशाली थी, बहुत-से मनुष्यों से भरी एवं अन्न-पान-संपन्न थी। उसमें ७७०७ प्रासाद, ७७०७ कूटागार (कोठे), ७७०७ उद्यान-गृह (आराम) और ७७०७ पुष्करिणियाँ थीं।" वहाँ "७७०७ राजा, ७७०७ युवराज, ७७०७ सेनापति और ७७०७ भंडागारिक थे।" इससे वैशाली के प्राचीन वैभव की कल्पना कर सकते हैं।

नगर के बीच में एक संस्थागार (Mote Hall) था†, जहाँ सब वज्जि-जनता के प्रतिनिधि एकत्र होकर अपने गणतंत्र राज्य की शासन-संबंधी मंत्रणा करते थे। महापरिनिर्वाण सूत्र से ज्ञात है कि लिच्छवि उस समय सात पतन-विरोधी बातों का पालन करते थे। एक बार भगवान् ने सारंदद चैत्य में विहार करते हुए उन्हें इसका उपदेश किया था, तब से लिच्छवि उन बातों का पालन करते थे, जिससे उनका कभी पतन नहीं हो सकता था।

जिस समय मगध-नरेश अजातशत्रु के महामंत्री वर्षकार ने भगवान् से कहा था—"हे गौतम! राजा अजातशत्रु वज्जियों पर हमला करना चाहता है।" तब भगवान् ने कहा था—"जब तक ब्राह्मण! यह सात पतन-विरोधी धर्म वज्जियों में रहेंगे, तब तक ब्राह्मण! वज्जियों की वृद्धि ही होगी, हानि नहीं।" वज्जियों के वे सात धर्म ये थे—

(१) कोई भी काम वे बहुमत से निर्णय करके करते थे।

(२) एक राय से काम करते और उठते-बैठते थे।

---

* "तं नगरं तिक्खत्तुं गावुतन्तरेन गावुतन्तरेन पाकारेन परिक्खिपिंसु। तस्स पुनप्पुनं विसालीकतत्ता वेसालीत्वेव नामं जातं"—सुत्त नि० अट्ठ० २. १३।

† नगरमज्झे संथागारं-सुत्त नि० अट्ठ० २. १३।

(३) नियम-विरुद्ध कोई भी काम नहीं करते थे।

(४) वृद्ध लोगों का सम्मान-सत्कार करते और उनकी बात मानते थे।

(५) स्त्रियों और कन्याओं पर अत्याचार और उनके साथ बलात्कार नहीं करते थे।

(६) नगर के भीतर और बाहर के चैत्यों (देवस्थानों) का सत्कार-सम्मान करते और उनके लिये प्रदान की हुई संपत्ति और धार्मिक बलि को नहीं छीनते थे।

(७) अर्हतों की रक्षा करते और इस बात का ध्यान रखते थे कि वे देश में सुख-पूर्वक विचरण करें।

यही नहीं, वैशाली के लिच्छवि उद्योगी और परिश्रमी थे। भगवान् ने उनके अनालस्य और पराक्रम की प्रशंसा करते हुए कहा था—"भिक्षुओ! इस समय लिच्छवि काष्ठ की तकिया लगाते हैं, और प्रमाद-रहित होकर स्मृति के साथ उद्योग करते हैं, इसलिये मगध के राजा वैदेही-पुत्र अजातशत्रु को अवसर नहीं मिलता है। किंतु भिक्षुओ! भविष्य में लिच्छवि कोमल हाथ-पैरवाले सुकुमार होंगे। वे रुई की तकिया-युक्त शय्याओं पर सूरज के निकलने तक सोएँगे, तब राजा अजातशत्रु अवसर पाएगा*।"

लिच्छवि राजा बड़े सुंदर और प्रासादिक थे। एक समय वे भगवान् के दर्शन के लिये जाते हुए ऐसे सजे-धजे थे कि जिन्हें देखकर भगवान् ने कहा था—"भिक्षुओ! देखो, लिच्छवियों की परिषद् को। भिक्षुओ! देखो लिच्छवियों की परिषद् को। भिक्षुओ! इस लिच्छवि-परिषद् को तावतिंस के देवताओं की परिषद् समझो।"

भगवान् को वैशाली से बड़ा प्रेम था, उन्होंने वैशाली में विहार

---

* संयुत्त नि० २, १९, ८।

करते समय कई बार कहा था—"आनंद! रमणीय है वैशाली, रमणीय है उदयन चैत्य, गौतमक चैत्य, सप्ताम्रक-चैत्य, बहुपुत्रक-चैत्य, सारंदद-चैत्य!" अंतिम बार वैशाली से जाते हुए भी उन्होंने वैशाली का नागावलोकन करके कहा था—"आनंद! तथागत का यह अंतिम वैशाली-दर्शन होगा!" इन शब्दों में वैशाली के प्रति भगवान् के प्रेम का कैसा भाव भरा हुआ है! उन्होंने जाते समय वैशाली को स्नेह-भरी आँखों से देखकर इन शब्दों को कहा था।

वैशाली नगर के चारों ओर बने हुए सुदृढ़ प्राकारों में एक-एक नगर-प्रवेश द्वार था। पश्चिमी द्वार के पास लिच्छवियों के आचार्य महालि का घर था, जो कुशीनगर के बंधुलमल्ल और कोशल-नरेश प्रसेनजित के साथ तक्षशिला से विद्याध्ययन करके लौटे थे। वैशाली के लिच्छवियों को अपनी धनुष-विद्या दिखलाते समय उनकी आँखें फूट गई थीं। उनके जीवन-यापन के लिये लिच्छवियों ने उन्हें पश्चिमी द्वार दे दिया था, जिसकी आय एक लाख थी। वह वहाँ रहते हुए ५०० लिच्छवि-राजकुमारों को विद्या पढ़ाते थे।

नगर के भीतर और पश्चिमी द्वार के सन्निकट मंगल पुष्करिणी थी, जिसके बाहर और भीतर चारों ओर रक्षक रहते थे। कोई अन्य उसमें स्नान नहीं करने पाता था, केवल वे ही राजकुमार उसमें स्नान करते थे, जिनका अभिषेक होता था। पुष्करिणी के ऊपर लौह-जाल फैला हुआ था। पक्षी के जाने-भर को भी जगह नहीं थी *। किंतु कुशीनगर के महान् वीर, कोशल-नरेश के सेनापति बंधुलमल्ल ने उसमें अपनी स्त्री मल्लिका को स्नान कराया था, और पाँच सौ लिच्छवि राजाओं को एक ही तीर से मार गिराया था। अनुमानतः वर्तमान गढ़ के पश्चिम का 'बावन पोखर' ही मंगल पुष्करिणी है।

---

* धम्मपदट्ठकथा ४, ३।

वैशाली की अंबपाली गणिका अत्यंत रूपवती, दर्शनीय, प्रासादिक और नाच-गान तथा वाद्य में चतुर थी। उसकी ऐसी ख्याति फैली हुई थी कि एक बार राजा बिंबिसार को भी लिच्छवियों के डर से अपना वेष बदलकर उसके लिये वैशाली आना पड़ा था। वह चाहनेवाले मनुष्यों के साथ एक रात के लिये पचास कार्षापण लिया करती थी। विनयपिटक में आया है कि "उससे वैशाली और भी अधिक शोभित थी..."* उसके कारण वैशाली की बढ़ती हुई शोभा को देखकर राजा बिंबिसार को भी सालवती-नामक गणिका रखनी पड़ी थी।

बुद्ध-काल में यद्यपि वैशाली में अनेक मतावलंबी थे, तथापि बौद्ध भिक्षु, भिक्षुणियों और उपासक-उपासिकाओं की सबसे अधिक संख्या थी। भिक्षुणियों में विमला,[1] सिंहा,[2] वासिष्ठी,[3] अंबपाली,[4] रोहिणी,[5] आदि वैशाली की ही रहनेवाली थीं। भिक्षुओं में वड्ढ°-मानस्थविर,[6] अंजनवनिय,[7] वज्जीपुत्त,[8] सुयाम,[9] पियञ्जह,[10] वसभ,[11] वल्लिय,[12] सब्बकामी,[13] आदि का जन्म वैशाली में ही हुआ था। उपासकों में सिंह सेनापति, उग्र गृहपति आदि सहस्रों धार्मिक उपासक वैशाली में ही उत्पन्न हुए थे। उपासिकाओं की गणना न थी, जिनका जन्म वैशाली में हुआ था, और जो परम बुद्ध-भक्त थीं।

---

* विनय पिटक ८, १।

१. थेरीगाथा ५, १, २। २. वही, ५, १, ३। ३. वही, ६, १, २। ४. वही, २०, १। ५. वही, २०, २। ६. थेरगाथा १, ५, १०। ७. वही, २, ६, ५। ८. वही, १, ७, २। ९. वही, १, ८, ४। १०. वही १, ८, ६। ११. वही, २, १, १०। १२. वही, २, ३, ४। १३. वही, ६, १, १४।

पूर्व से वैशाली की शक्ति इतनी बढ़ी हुई थी कि वहाँ के निवासी किसी से दबते न थे। जिस समय कुशीनगर के मल्लों ने बुद्ध-धातु को देने से इन्कार कर दिया था, उस समय उनका खून खौल उठा था। उन्होंने शीघ्र कुशीनगर को अपना दूत भेजा, और धातु का भाग प्राप्त किया।

वैशाली के लिच्छवि, जो भारतवर्ष के इतिहास में एक प्रमुख धार्मिक, राजनीतिक स्थान रखते थे, उनका गणतन्त्र राज्य, बुद्ध-परिनिर्वाण के तीन वर्ष बाद ही, फूट डालकर लालची मगध-नरेश अजातशत्रु द्वारा हड़प लिया गया था।

शाह काज़िन की दरगाह

प्राचीन नगर के खँडहर से होते हुए हम लोगों ने वेंकटेश्वर का मंदिर देखा। यह एक आधुनिक मंदिर है, जिसमें राम, सीता आदि की मूर्तियाँ हैं। यह खँडहर के ऊपर ही बना है। खँडहर के चारों ओर एक चौड़ी खाई है, जिसमें वर्षा-काल में पर्याप्त जल रहता है। खँडहर से बसाढ़ गाँव के पश्चिमी भाग में स्थित उस ध्वंसित स्तूप को देखने के लिये गए, जिसे आजकल शाह काज़िन की दरगाह कहते हैं। यह आस - पास के खेतों की सतह से २३ फ़ीट ८ इंच ऊँचा है। धरती पर इसका व्यास १४० फ़ीट है। दक्षिण ओर से ऊपर जाने के लिये ईंटों की सीढ़ियाँ हैं। पास ही एक बहुत बड़ा बरगद का वृक्ष है। स्तूप का ऊपरी भाग चौरस है। और वहीं प्रसिद्ध फ़क़ीर शेख़ मुहम्मद काज़िन की दरगाह है। स्तूप के पूर्वी भाग पर एक मसजिद भी है। मुसलमानों ने अपने शासन के दिनों में ऐसे कितने ही महत्त्व-पूर्ण स्थानों का सत्यानास ही नहीं किया, प्रत्युत इतिहास को भी बदल दिया। जिस प्रकार पावा के महान् स्तूप पर एक फ़क़ीर की क़ब्र बनी हुई है और नीचे क़ब्रिस्तान, उसी

प्रकार वैशाली के इस स्तूप को भी दरगाह और मसजिद बना दिया गया है।

यह वही स्तूप है, जिसे भगवान् के परिनिर्वाण के पश्चात् लिच्छवियों ने उनकी धातु पर बनवाया था। यद्यपि इसके लिये कोई प्रमाण नहीं है, तथापि लिच्छवियों ने जिस स्तूप का निर्माण किया था, वह नगर-प्राकार के भीतर बना था, और संप्रति यह स्तूप नगर-प्राकार के भीतर ही अवस्थित है।

बावन पोखर का मंदिर

मैंने शाह काज़िन की दरगाह का फ़ोटो लिया, और अपनी मंडली के साथ बावन पोखर देखने गया। यह गढ़ से पश्चिम पड़ता है। पोखर के उत्तरी भीटे पर एक छोटा-सा आधुनिक मंदिर है। इसमें आठ मूर्तियों से युक्त एक शिला-खंड है, जिस पर पंचबुद्ध (वैरोचन, अक्षोभ, रत्नसंभव, अमृताभ और अमोघसिद्धि), सप्तलोचना तारा, जैन तीर्थंकर महावीर और गणेश-शिव-पार्वती की मूर्तियों के साथ दो सिंह भी बने हुए हैं। ये मूर्तियाँ प्राचीन, किंतु महायान के अभ्युदय के पीछे की हैं। कहा जाता है, ये मूर्तियाँ पोखर से निकली थीं। जैसा मैंने कहा है, बावन पोखर ही मंगल पुष्करिणी है, कदाचित् कुशीनगर के मुकुटबंधन-चैत्य की भाँति इस पुष्करिणी के किनारे कोई मंदिर रहा हो, और ये मूर्तियाँ पहले उसी में रही हों।

वैशाली-परिभ्रमण

वैशाली नगर बहुत बड़ा था। चीनी भिक्षु श्यूआन्-च्युआङ् ने केवल राज-भवन का क्षेत्रफल आधा कोस लिखा है। अतः गढ़ से चारों ओर दूर-दूर तक नगर का विस्तार रहा होगा। आधुनिक प्राप्त चिह्नों से हम इसका कुछ अनुमान लगा सकते हैं। यह निश्चित है कि उदयन और बहुपुत्रक-चैत्य नगर से बाहर थे। इस प्रकार

वैशाली-नगर का उत्तरी प्राकार बनिया-ग्राम के दक्षिणी पार्श्व में रहा होगा, और पूर्वी प्राकार कामनछपरा के पास। घोघा के पूर्वी किनारे से होती हुई जो ईंटों की दीवार उत्तर-दक्षिण चली जाती है, वही पश्चिमी प्राकार रहा होगा। घोघा के पश्चिमी किनारे पर ईंटों की बनी सीढ़ियाँ अभी तक वर्तमान हैं। यह नाला अवश्य ही वैशाली-नगर के प्राकार से बाहर पश्चिमी खाई रहा होगा। बोधागाँव से लेकर बसाढ़ के दक्षिण तक जो मिट्टी की एक ऊँची दीवार चली आती है, वह दक्षिणी प्राकार को सूचित कर रही है।

हम लोग बावन पोखर से घोघा नाला के पास गए और बोधा-टोला से होते हुए वैशाली के दक्षिणी प्राकार के किनारे-किनारे कोनसा तक आए। कोनसा के आस-पास ही वैशाली-नगर का दक्षिणी प्रवेश-द्वार रहा होगा। उससे दक्षिण थोड़ी दूर पर अंबपाली का आम्रवन था, जिसे उसने भिक्षु-संघ के साथ भगवान् को दान कर दिया था। वालुकाराम भी इधर ही कहीं नगर से बाहर रहा होगा, जहाँ दूसरी धर्म-संगीति हुई थी। संभवतः भगवानपुर रत्ती में वालुकाराम का विहार रहा हो।

हम लोगों को परिक्रमण करते हुए सात बज गए। अतः कोनसा से सीधे हाईस्कूल चले आए। रात्रि में बड़ी देर तक वैशाली-संघ के लोगों से वैशाली के संबंध में बातें होती रहीं।

नेपाल-प्रवेश

(१) [illegible]

चार मार्च को प्रातःकाल वैशाली से विदा हुए, और मुज़फ्फ़रपुर वापस आए। आज दोपहर का भोजन स्थानीय सिनेमा-घर में काम करनेवाले श्री नन्द वज्राचार्य के यहाँ किया। यहाँ से महोदय पंडित को राजगृह जाना पड़ा था, अतः वह यहीं रह गए। उनको ट्रेन संध्या को मिलनेवाली थी। हम चार व्यक्तियों ने नेपाल के लिये प्रस्थान किया।

आज नेपाल जानेवाले यात्रियों की भीड़ से ट्रेन में समासूध न थी। तीन बजे हमारी ट्रेन मुज़फ़्फ़रपुर से छूटी। हम लोग छ बजे सुगौली पहुँच गए। सुगौली से रक्सौल जानेवाली ट्रेन एक घंटा पूर्व ही छूट चुकी थी, अतः हम लोगों को ग्यारह बजे रात तक प्लेटफ़ॉर्म पर पड़े-पड़े ट्रेन की प्रतीक्षा करनी पड़ी। ट्रेन ठीक समय पर आई, किंतु उसके छूटने का समय तीन बजे था। हम लोग ट्रेन में जाकर बैठ गए। भीड़ इतनी थी कि लोग एक दूसरे को जबरदस्ती दबाकर बैठना चाहते थे, फल-स्वरूप सिंहली उपासिका से और एक युवक व्यक्ति से झगड़ा हो गया। कहते हैं, स्त्री-जाति भीरु होती है, किंतु हमने देखा कि कई सहस्र मील चलकर आनेवाली सिंहली उपासिका ने उस तरुण के गालों पर कसकर दो चप्पल लगा दिए। तरुण अपना-सा मुँह लिए रह गया, परंतु डब्बे में बैठे हुए लोगों से नहीं रहा गया। वे उपासिका को नाना प्रकार से बुरा-भला कहने लगे। जब मैंने देखा कि मामला ज़ोर पकड़ता जा रहा है, तब दोनों पक्ष को समझा-बुझाकर शांत किया।

हमारी ट्रेन दूसरे दिन प्रातः ६ बजे रक्सौल पहुँच गई। वहाँ ट्रेन से उतरते समय जब हम लोग अपना-अपना सामान सँभालने लगे, तो देखा कि नेपाली उपासिका धम्मानंदी का बिस्तरा ही गायब था। इधर-उधर ढूँढ़ा गया, किंतु उस जमघट में, जहाँ पैर रखने को भी जगह खाली न थी, कैसे पता लगता? उपासिका का बिस्तरा गायब होने का उतना दुःख नहीं था, जितना उन भगवान् की मूर्ति के चले जाने का, जिसे वह गट्ठर में बाँधे थीं। मूर्ति पत्थर की बनी थी, और थी बड़ी ही भव्य। ओढ़ने-पहनने के वस्त्र तो चले ही गए, यात्रियों का कहना था कि बिस्तरा यहाँ नहीं, प्रत्युत सुगौली में ही कुलियों द्वारा झटक लिया गया होगा, क्योंकि वहाँ के कुली बड़े चाई और सिरचढ़े होते हैं। प्रतिदिन ऐसी घटनाओं का होना तो वहाँ के लिये साधारण बात है।

रक्सौल स्वतंत्र भारत और नेपाल की सीमा पर स्थित है। यात्री ट्रेन से उतरकर रक्सौल के नेपाल-राज्य के स्टेशन पर जा रहे थे। हम लोग भी अपना-अपना सामान सँभालकर चल दिए। दो दिनों से इतनी भीड़ आकर जमा हो गई थी कि ट्रेन में सवार होना तो दूर की बात, प्लेटफ़ॉर्म और बगीचे में बैठने तक को जगह न थी। हम लोग दूकान से कुछ पूरियाँ और मिठाइयाँ लेकर वीरगंज तक जाने के लिये सगड़ (इक्का) खोजने लगे। सगड़ नहीं मिला। तीन रुपए में एक बैलगाड़ी किराए पर की, और मधेश-वासी (मध्यदेशवासी) चालक के साथ बातें करते हुए आगे बढ़े।

नौ बजे वीरगंज पहुँच गए। रक्सौल से वीरगंज केवल तीन मील दूर है। वहाँ भदंत धम्मालोकजी के एक परिचित दूकानदार के यहाँ भोजन बना। भोजनोपरांत हम लोग स्टेशन गए। सामान प्लेटफ़ॉर्म पर रखवा दिया था, और राहदानी (Passport) लेने के लिये अड्डे

नए गए। मुझसे कुछ लोगों ने कहा था कि रहदानी मिलने में कठिनाई होती है, और विशेषकर विदेशियों को तंग होना पड़ता है, किंतु जब मैंने तीन के लिये रहदानी माँगी, तब अफ़सर ने—"आप देशी हैं?" पूछते हुए तीन रहदानी निकाल कर दे दी। मैं समझता था जब मुझे तीन रहदानी मिल गई, तो धम्मालोकजी के लिये कोई अड़चन न होगी। इन्हें रहदानी झट मिल जायगी, किंतु अफ़सर ने यह कहकर रहदानी देने से इनकार कर दिया—"बड़े हाकिम नहीं हैं, कल दस बजे रहदानी मिलेगी।" यह सुनकर मेरा जी सन्न-सा हो गया। मैंने अफ़सर को बहुत कुछ समझाया, किंतु मेरी एक न चली। कहते हैं, इस अड्डेवाले ब्राह्मण कर्मचारी भिक्षुओं को विशेष तंग किया करते हैं। लौटकर प्लेटफ़ॉर्म पर आया, तो एक और भी नेपाल देशीय लामा मिले, जिन्हें रहदानी न देकर दो दिनों से दौड़ाया जाता था। ज्ञात पड़ता है, नेपाल-सरकार इन कर्मचारियों की जाँच-पड़ताल नहीं करती। अपनी प्रजा के प्रति ऐसा रुख शोभा नहीं देता।

प्लेटफ़ॉर्म पर पहुँचते ही एक लॉरीवाला आया, और कहा कि हम लोग उसकी लॉरी से अमलेखगंज चलें। किराया तीन रुपए बता रहा था। उसकी लॉरी से जाने का इरादा होते हुए भी धम्मालोकजी के लिये रहदानी न होने के कारण जाना समुचित न था, क्योंकि जो लोग बिना रहदानी के जाते हैं, वे चीसापानी गढ़ी के अड्डे से लौटा दिए जाते हैं। बिना रहदानी के कोई भी नेपाल में प्रवेश नहीं कर सकता। हम लोगों की बातों को सुनकर उसने पूछा—"क्या रहदानी नहीं मिली?"

"मिली है भाई, एक की और कमी है।" मैंने कहा।

आप लोग लॉरी में बैठिए, मैं अभी रहदानी लाता हूँ।" कहकर वह दौड़ा हुआ अड्डे में गया, और झट तीन-तीन रहदानी लिए

हुए आया। किन्तु सब-की-सब शिवरात्रि की थीं। शिवरात्रि की रह-दानियों पर केवल— "श्री: श्री० ना०

शिवरात्रि

टिकट नं०......

......साल "

—लिखा होता है। देशवासियों की रहदानियों पर उनका पूरा पता और विवरण रहता है।

रहदानी तो मिल गई, किन्तु धम्मालोकजी को डर था कि उन्हें कहीं चीसापानी से लौटना न पड़े।

वीरगंज से अमलेखगंज २८ मील दूर है। यह नेपाल-रेलवे का अंतिम स्टेशन है। वहाँ से लॉरियों द्वारा ही भीमफेदी तक यात्री जाते हैं। ग्रामीण नरेशवारसा (मधवेसवासी) झुंड-के-झुंड गाते-बजाते पैदल ही यात्रा करते हैं। अमलेखगंज एक छोटी और नवीन बस्ती है, किन्तु इस समय नर-नारियों से खचाखच भरी हुई थी। हम लोग चार बजे वहाँ पहुँच गए। लॉरियों में सीटें तो होती नहीं, ऊपर से भी खुली ही होती हैं। जैसे कसाई अपनी गाड़ियों में जानवरों को लादकर बड़ी तेज़ी से लिए चले जाते हैं, ठीक वही दशा इन लॉरियों की थी। हमारी लॉरी पर लगभग चालीस बंगाली महिलाएँ थीं, और कुछ गोरखपुरी नौजवान थे। जब कभी नीचा ऊँचा स्थान आता, सब चीख उठते, किन्तु ड्राइवर और कंडक्टर मज़े से गीत गाते तीव्रगति से चले जाते। पीछे से इतनी धूल उड़ती कि हम सब लोग भूत-से हो गए थे। जब अमलेखगंज में उतरे, तो देखा कि नाक, कान, सिर, चीवर सारा-का-सारा धूल से भरा हुआ था।

अमलेखगंज में पहुँचकर धम्मालोकजी ने अपने परिचित उपासक द्वारकाप्रसाद की लॉरी ढूँढ़ी, परंतु वह छूट चुकी थी। अतः हम लोग एक दूसरी लॉरी पर सवार हुए। अमलेखगंज में जिस प्रकार

यात्रियों की भीड़ थी, उसी प्रकार लॉरियों का भी काफ़ी प्रबंध था। लॉरियाँ आतीं और दनादन छूट जातीं। हम लोग जिस लॉरी में बैठे, उसमें मारवाड़ी स्त्री-पुरुषों की संख्या अधिक थी। हमारे आगे-पीछे सैकड़ों लॉरियाँ दौड़ रही थीं। अब हम लोग तराई के जंगलों को छोड़कर पर्वतों में जा रहे थे। दोनों ओर पर्वतों की कतारें वृक्षों से भरी खड़ी थीं। अनेक प्रकार के पशु-पक्षी विचर रहे थे। कहीं-कहीं पर्वतों की चोटियों पर आग लगी हुई थी। जहाँ-तहाँ उन्हीं पर्वत-शृंखलाओं में दो-चार घर भी बने हुए थे। हमारी लॉरी में बैठी हुई स्त्रियाँ पशुपति और भैरव के गीत गा रही थीं। रह-रहकर "एक बार बोलो पसुपत नाथ बाबा की जय", "गुंजेसरी माई की जय", "पारसनाथ बाबा की जय" के शब्दों से दिशाएँ गूँज उठती थीं। सैकड़ों यात्री स्थान-स्थान पर पड़ाव डालकर भोजन बना रहे थे। ये बेचारे उत्तर-भारत के गरीब किसान थे। इनके पास रुपए कहाँ कि लॉरियों से यात्रा करें? ये तो किसी तरह एक-दो रुपए जुटाकर सत्तू-आटा ले ही "पसुपत नाथ बाबा" का दर्शन करने जा रहे थे।

मार्ग में 'चूरी माई' के मंदिर के पास हमारी लॉरी रुक गई। प्रायः सभी स्त्रियों ने वहाँ 'चूरी माई' की आरती उतारी, तथा एक-एक पैसा चढ़ाया। वहाँ से हम लोगों ने एक लंबी सुरंग में प्रवेश किया। कहते हैं, सुरंग न होने से पूर्व चुरिया घाटी पर चढ़ना होता था, किंतु अब सुरंग ने चुरिया-घाटी की चढ़ाई बिलकुल बंद कर दी है। सुरंग के बीच में जाकर हमारी लॉरी का एंजिन फ़ेल हो गया। यात्रियों में हाहाकार मच गया। "चूरी माई की जय, चूरी माई की जय" से कान फटने लगे। ड्राइवर चालाक था, अतः लॉरी ठीक होने में देर न लगी।

सुरंग के पश्चात् हम लोग नदी के किनारे-किनारे आगे बढ़ने लगे। कहते हैं, जब लॉरियाँ नहीं चलती थीं, और कोई अच्छा रास्ता

नहीं बना था, तब नेपाल जानेवाले सभी यात्री इसी नदी के किनारे-किनारे जाते थे। अब अँधेरा हो चला था। हम लोग सुपरितागा, भैसादोहन आदि ग्रामों को पारकर धोरसिंह पहुँचे। वहीं 'रोपलाइन' का अड्डा है। अमलेखगंज से जो माल लॉरियों द्वारा वहाँ आता है, वह तार के सहारे बिजली की शक्ति से नेपाल तक पहुँचाया जाता है। 'रोपलाइन' से इस प्रदेश के निर्धनों की जीविका हर ली गई है। जो लोग बोझ ढोकर पेट भरते थे, अब वे आश्रय-हीन-से हो गए हैं, क्योंकि 'रोपलाइन' से माल शीघ्र और सस्ते में नेपाल तक पहुँच जाता है।

नौ बजे रात में हम लोग भीमफेदी पहुँचे। यह एक सुंदर कस्बा है, और चीसापानी गढ़ी पर्वत-शृंखला के नीचे बसा हुआ है। वहाँ से आगे लॉरियाँ नहीं जाती हैं। यात्रियों को थानकोट तक पैदल जाना होता है। जो पैसेवाले होते हैं, वे वुडनकार्ट (Wooden Cart डाँडी) या डोका द्वारा जाते हैं। वुडनकार्ट एक विशेष प्रकार की तिकोनी कुर्सी है, जिसके दोनों सिरों पर डंडे बँधे होते हैं। यात्री कुर्सी पर बैठ जाता है और उसे चार आदमी उठा लेते हैं। वुडन-कार्ट से कोई भी व्यक्ति मज़े से पहाड़ की चढ़ाई तय करके एक ही दिन में नेपाल पहुँच सकता है। 'डोका' एक प्रकार की टोकरी होती है, जिसमें यात्री को बैठाकर पीठ पर लाद लेते हैं। डोके का पिटारा भरिया (ढोनेवाला) के मस्तक पर लगा होता है, और रस्सियाँ कंधों में पड़ी होती हैं। डोके द्वारा विशेष बच्चे और स्त्रियाँ ही यात्रा करती हैं। डोका लिए हुए भरिया पैदल यात्रियों से भी मंद गति से चलते हैं, किंतु जहाँ कहीं भी निर्भय चले जाते हैं।

हम लोगों ने दो भरियों को लिया, और साहु द्वारकाप्रसाद के घर गए। बिजली के बल्ब जल रहे थे। घर प्रकाश-पूर्ण था। हम लोगों ने अपने आसन लगाए और सो रहे।

चीसापानी गढ़ी और चंद्रागिरि की चढ़ाइयाँ

दूसरे दिन प्रातः ठंडे-ठंडे में चीसापानी गढ़ी की चढ़ाई का विचार हुआ। सिंहली उपासिका दुबली-पतली थी। धम्मालोकजी ने कहा, वह पैदल नहीं चल सकेगी, अतः उसके लिये एक ऐसे भरिया को लिया गया, जो उसे लाद सके। दूसरे भरिया पर सारा सामान लाद दिया गया। भीमफेदी से काठमांडू तक जाने के लिये उन्हें साढ़े पाँच-पाँच रुपए देना तय हुआ।

हम लोगों ने एक दूकान पर चाय, चिउरा और मिठाई खाई। दूकानदार बौद्ध था। जब पैसे देने लगे, तो हाथ जोड़कर प्रणाम किया, और कहा—"भंते! लौटती बार भी अवश्य दर्शन दीजिएगा।" वहीं, पास ही, 'भरिया-नायक अड्डा' है, जहाँ एक अफ़सर के पास भरिया (कुली) तथा यात्री का नाम लिख लिया जाता है, और यात्री से सारी मजदूरी ले ली जाती है। जब भरिया काठमांडू तक सामान पहुँचा आते हैं, और वह फ़ॉर्म, जो 'भरिया-नायक अड्डा' से यात्री को मिला होता है, हस्ताक्षर कराके लाते हैं, तब उनको मज़दूरी दी जाती है। हाँ, आवश्यकता होने पर उन्हें 'भरिया-नायक' जाते समय कुछ रुपए दे देता है। यह प्रबंध इसलिये है, जिसमें भरिया यात्री का सामान लेकर खिसक न जायँ। जो व्यक्ति भरिया होना चाहते हैं, उन्हें शिवरात्रि के लिये नेपाल का मार्ग खुलने से पूर्व ही अपना नाम, ग्राम लिखाकर 'भरिया-नायक अड्डा' से पास (Pass) ले लेना पड़ता है। इस अवसर पर कुछ पैसे कमा लेने के लिये नेपाल के दूर-दूर के बेचारे निर्धन मनुष्य यहाँ आकर भरिया का काम करते हैं।

'भरिया-नायक अड्डा' से पर्वत पर चढ़ते हुए नर-नारियों की क़तार क्या ही सुंदर जान पड़ती थी ; हम लोगों ने भी चढ़ाई प्रारंभ की। यात्री बड़े आनंद के साथ चढ़े चले जा रहे थे। डंडनकाट (डाँडी) और डोके में जानेवाले यात्रियों की संख्या बहुत कम थी। बहुत ही कम लोगों के पास पैसे भी तो होते हैं ? पर्वत पर वृक्षों की छाया थी, चारों ओर पर्वतों की मनोहर चोटियाँ दिखाई दे रही थीं। हम लोग अनेक रमणीय दृश्यों को देखते हुए ऊपर चढ़ते चले जा रहे थे। आध मील की चढ़ाई के बाद एक चट्टी मिली, जहाँ पानी का नल और दो-तीन दूकानें थीं। ग्यारह बज रहे थे, इसलिये हम लोगों ने वहाँ कुछ पूरियाँ खा लीं।

अब धूप कड़ी होने लगी थी, और हम लोग पर्वत-शिखर पर चढ़ते जा रहे थे। रह-रहकर दम लेना पड़ता था। आज सहसा लंका के श्रीपाद की चढ़ाई याद आने लगी थी। मार्ग कहीं-कहीं सपाट और समतल भी था, श्रीपाद के समान बिलकुल सीधा और सीढ़ीदार नहीं। वृक्षों के झुरमुट से सुगंधित वायु के झोंके चल रहे थे।

हम लोग भीमफेदी से ढाई मील चलकर चीसापानी-गढ़ी के ऊपर पहुँचे। यह नाम पानी के शीतल (चीसा) होने के कारण ही पड़ा है। धम्मालोकजी को अब डर होने लगा था कि कहीं उन्हें यहाँ से लौटना न पड़े ; मैंने उन्हें समझाया और कहा—"आप चुपचाप आगे निकल चलें। पूछने पर कह दें कि रहदानी पीछे आनेवाले भिक्षु के पास है। मैं उनसे बातें कर लूँगा।" उन लोगों को मैं आगे भेजकर भरियों के साथ अड्डे पर आया। वहाँ सब सामान खोल.कर जाँच-पड़ताल किया गया, किंतु हमारे पास था ही क्या ? कुछ ग्रंथ और ओढ़ने-पहनने के वस्त्र थे। अस्तु, छुट्टी पाने में देर न लगी। वहाँ से आगे उस अफ़सर के पास पहुँचे, जो संख्यावाली रहदानी को लेकर संख्या-रहित रहदानी देता है। उसने मुझसे

कहा—"आपके तीन आदमी आगे गए हैं, उनकी रहदानी लाइए।"

मैंने झट रहदानी निकालकर दे दी। रहदानी को देखते ही उसने कहा—"कृपया उन्हें बुलाइए।" देखा तो वे कई फर्लांग दूर निकल गए थे। मैंने कहा—"देखिए, वे बहुत दूर चले गए हैं। हमें वहाँ तक जाकर बुलाने में बड़ा विलंब होगा।" उसने मुझे छोड़ दिया। मैं प्रसन्नता के मारे फूला न समाया, और भरियों के साथ जल्दी-जल्दी धम्मालोकजी के पास गया। अब उनके जी में जी आया। वह बहुत प्रसन्न हुए, और बोले—"रास्ता मार लिया है।"

आगे चलने पर 'कुल्लीखानी' में झरते हुए झरने का चित्ताकर्षक दृश्य मिला, जिसे देखकर मुझे श्रीपाद के झरनों की याद हो आती थी। मारख्-नदी में गेहूँ पीसने की पनचक्कियाँ बनी थीं। नेपाल में सर्वत्र नदियों से पनचक्कियाँ बनी होती हैं, जो पानी की धार से चलती हैं, और बिना किसी खर्च के आटा पिसकर तैयार हो जाता है। मारखू की घाटी में गेहूँ, जौ, आलू और मक्का की पैदावार होती है। छोटी-छोटी पहाड़ी गाएँ मारखू की दूनों में चरती हुई बड़ी भली जान पड़ती थीं।

हम लोग चलते-चलते थक गए थे। भूख भी खूब लग गई थी। पैर दुखने लगे थे। मैंने मार्ग में बहुत-से यात्रियों को थकावट से रोते हुए देखा। एक बिहारी नौजवान ने तो व्याकुल होकर आज की रात उस पहाड़ी में ही रहने का इरादा कर लिया था। मैंने एक ऐसे संन्यासी को भी देखा, जो थकावट से भूमि पर पड़ा लोट रहा था। इन पर्वत-शृङ्खलाओं की चढ़ाई-उतराई बड़ी ही विचित्र थी।

मार्ग में हम लोगों ने कई स्थानों पर चाय पी, और चलते-चलते संध्या को चित्तलाँग पहुँचे। यह स्थान चंद्रागिरि पर्वत के नीचे स्थित है, और है बहुत ही शीतल। यहाँ एक पुरानी धर्मशाला है, जो

यात्रियों से बिलकुल भर गई थी। पीछे आनेवाले लोगों ने इधर-उधर किराए पर घर लेकर टिकना आरम्भ कर दिया था। हम लोगों ने भी एक दूकानदार को कुछ पैसे दिए, और उसके घर के ऊपरी तल्ले पर जाकर आसन लगा लिया। शिवरात्रि के दिनों में यहाँ के ग्रामीण अपने घर की कुछ कोठरियों को यात्रियों के लिये खाली कर रखते हैं, तथा पैसे लेकर उन्हें रात्रि-भर के लिये दे देते हैं। जो यात्री बाहर रहते हैं, उनके ठिठुर कर मर जाने की आशंका रहती है। क्योंकि इस ऋतु में बड़ी-कड़ी सर्दी पड़ती है। कभी-कभी तो जब पानी बरसता है, और ओले पड़ते हैं तब सहस्रों नर-नारी ठंडे पड़ जाते हैं। कहते हैं, शिवरात्रि के अवसर पर पानी अवश्य बरसता है। सौभाग्य कि इस वर्ष पानी नहीं बरसा, यात्रियों को विशेष आराम था, तथापि ठंडक की कमी न थी।

प्रातःकाल जब मैं उठा और हाथ-मुँह धोने गया, तो हाथ की उँगलियाँ सिकुड़ गईं। पैर ठंडे हो गए। पानी बर्फ-सा ठंडा था। यहाँ कुएँ तो हैं नहीं, पर्वत के झरनों से जो पानी नालियों द्वारा बहकर आता है, उसे ही यहाँ के लोग काम में लाते हैं। इस शीतल प्रदेश में प्रातःकाल उस पानी की ठंडक का क्या पूछना!

आज जलपान-मात्र से काम चलना न था क्योंकि हम कल के भूखे थे। अस्तु, प्रातःकाल भात बना, खाया और चल दिए। प्रातः पाँच बजे से ही यात्रियों का तांता बँध गया था। डुडकारों, डाँडा आदि की कतारें चल रही थीं। आगे भी चंद्रागिरि की चढ़ाई यद्यपि छः हज़ार छः सौ फीट ऊँची थी, तथापि कल जैसी दुरूह न थी, और कोई अधिक लंबी भी नहीं, किन्तु थकावट के कारण सब लोग परेशान हो रहे थे। थोड़ी-थोड़ी दूर पर दम लेना पड़ता था। चंद्रागिरि के सिर पर एक चट्टी है, वहाँ से हम लोग पुराने मार्ग से आगे बढ़े। नवीन मार्ग अच्छा और चक्करदार है, तथा पुराना सीधा

और छोटा। पुराना मार्ग सचमुच भयानक और आपद-युक्त है। हम लोगों ने उस मार्ग से जाकर बड़ी गलती की। उसमें सीधे नीचे को उतरना पड़ता है।

थान-कोट—नेपाल-उपत्यका

ग्यारह बजे हम लोग चंद्रागिरी से चलकर 'थानकोट' पहुँचे। यह चंद्रागिरि के नीचे एक छोटा-सा प्राचीन और प्रसिद्ध ग्राम है। यहाँ मैंने एक सुंदर छोटे-से नेपाली ढंग के बने चैत्य को देखा, जिसमें भगवान् की मूर्ति भी एक ताखे में बैठाई गई थी।

एक दूकान पर हम लोगों ने चिउरा-दूध खाया, और आगे चल दिए। काठमांडू यहाँ से छ मील है। वहाँ से यहाँ तक यात्रियों को ढोने के लिये बसें और लॉरियाँ दौड़ा करती हैं। हम लोगों का आज एक ग्राम के विहार में रहने का विचार था, अतः पैदल ही चल दिए। थानकोट के पास नेपाल-राज्य की ओर से मालपुए बाँटे जाते हैं। लोगों ने हमसे भी आग्रह किया, किंतु हम लोग पेट-पूजा कर चुके थे, भोजन का समय भी बीत चुका था। मैंने देखा, वहाँ बहुत-से सत लोग बैठे-बैठे चिलम के दम मार रहे थे।

बलंबु ग्राम

थोड़ी दूर चलने पर सड़क के बाएँ हाथ बलंबु ग्राम मिला। इसी ग्राम में 'प्रणिधिपूर्ण महा विहार' है, जहाँ भदंत कर्मशीलजी रहते हैं। आप मेरे पूर्व-परिचित थे, किंतु जाने पर मालूम हुआ कि पाटन गए हुए हैं। पहले तो हम लोग बड़े निराश हुए, किन्तु पीछे अनागारिका करुणा मिली। वह हमें देखकर बड़ी प्रसन्न हुई, और अतिथि-सत्कार में कोई कसर नहीं उठा रक्खी। यहाँ का पुराना विहार तीन मंज़िला है। निचली मंजिल में भगवान् की मूर्ति है, वहीं एक ओर भिक्षुओं के रहने के लिये आसन भी बिछे रहते हैं। हम वहाँ गए।

देखा, फ़र्श पर चटाइयाँ बिछी थीं, आसन लगे थे। हाथ-मुँह धोकर भरियों के फ़ार्म पर हस्ताक्षर करके छुट्टी कर दी।

बलंबु छोटा, किंतु प्राचीन ग्राम है। पुराने समय में इस गाँव के चारो ओर प्रवेश-द्वार थे, जिनके ध्वंसावशेष अब भी वर्तमान हैं। प्राचीन चैत्य और मूर्तियाँ पर्याप्त संख्या में हैं। यद्यपि बौद्ध-उपासकों के घर थोड़े ही हैं, तथापि प्रति अष्टमी को यहाँ धर्मोपदेश होता है, और कांतिपुर तथा ललितपुर के भिक्षु आते हैं। लोग श्रद्धा-पूर्वक उन्हें भोजन-दान देते एवं अष्टशील ग्रहण करके उपदेश सुनते हैं। अभी एक नए विहार का निर्माण भी हो रहा है, जिसे भिक्षु कर्मशीलजी अपने सतत प्रयत्न से बनवा रहे हैं। बौद्धों की ओर से बच्चों को शिक्षित करने के लिये एक पाठशाला भी चल रही है। गाँव के चारो ओर गेहूँ और जौ के लहलहाते हुए खेत बड़े ही मनोहर दिखाई देते हैं। आँख उठाने पर पर्वतों की चोटियाँ क्या ही सुंदर ज्ञात पड़ती हैं।

हम लोग थके हुए थे, इसलिये थोड़ी देर बाद सो रहे। दूसरे दिन प्रातः प्रातराश करके, सामान वहीं छोड़, धम्मानंदी अनागारिका के ज़िम्मे कर आनंदकुटी की राह ली और कह गए कि वह किसी भरिया को तलाशकर सामान लिवाकर पीछे आए।

बलंबु ग्राम के प्रत्येक घर के सामने डोरी की मालादार सूखी हुई पत्तियाँ लटक रही थीं। मैंने समझा, कोई पूजा रही होगी, इनका प्रयोग इसी में हुआ होगा, किंतु पूछने पर ज्ञात हुआ कि ये सूखे हुए साग हैं, जो आवश्यकता पड़ने पर, उबालकर, नमक-मसाला के साथ, खाए जाते हैं। पीछे तो मैंने ऐसे सागों को मकानों पर लटकते हुए संपूर्ण नेपाल-उपत्यका में देखा।

हम लोग वहाँ से सीधे चले। नइकाप की पहाड़ी और कालीमाटी से होकर गुज़रे। कालीमाटी गाँव का प्रदेश बड़ा उपजाऊ है—मक्का, जौ, आलू बहुत पैदा होता है।

इस तरह आपस में बातें करते, पर्वतीय दृश्यों को देखते और नेपाल-देशीय झरनों के दृश्यों का अवलोकन करते हुए हम बड़े आनन्दपूर्वक पहुँच गए।

ग्राम नेपाल में

आनंदकुटी

आनंदकुटी एक नवीन विहार है। इसके निर्माता हमारे भदंत धर्मालोक ही हैं। आप ही के प्रयत्न और नेपाल-वासी उपासकों के सहयोग से यह विहार सन् १९४[illegible] में बनकर तैयार हुआ था। विहार पर्वत की ढाल पर स्वयम्भू-चैत्य के पास है। विहार के पास एक सुंदर बुद्ध-मंदिर और चैत्य भी बना हुआ है। मंदिर छोटा, किंतु सुंदर है। अपनी जन्मभूमि कुशीनगर में आई हुई, बर्मा की बनी संगमरमर की मूर्ति को देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। कहते हैं, ऐसी सुंदर मूर्ति नेपाल में कहीं नहीं है। नेपाल के सब लोग इस श्वेत भगवान् का दर्शन करने यहाँ आते हैं। जो लोग बाह्य देशों से नेपाल आते हैं, उन्हें भी यहाँ एक बार दर्शन करने के लिये बाध्य किया जाता है। चैत्य लंका के चैत्यों के नमूने पर बना है। अभी इसमें बुद्ध-धातु की स्थापना नहीं हुई है। इसके गर्भ में बुद्ध-धातु की स्थापना के लिये अवकाश रक्खा गया है। चैत्य के एक पार्श्व से नीचे उतरकर वहाँ तक जाने के लिये मार्ग है। मैंने भी अंदर जाकर देखा। धातु-गर्भ के दोनों ओर ताखे बने हैं, जिनमें ग्रंथ या भगवान् की मूर्तियाँ रक्खी जायँगी। चैत्य पर्वत के ढालुआँ भाग को भरकर बनाया गया है। वर्षा-काल में भरी हुई मिट्टी के बह जाने पर इसे क्षति पहुँचने की संभावना है। कहते हैं, गत वर्ष इसी प्रकार चैत्य गिर पड़ा था।

भदंत धर्मालोक ने मुझे मंदिर की मूर्ति का बड़ा सुंदर इति-

हाल सुनाया। उन्होंने बतलाया कि वह सन् १६४४ में कुशीनगर था, इस समय में भी वहाँ था। मूर्ति को लाने के लिये एक बक्स तैयार किया गया, उसमें मूर्ति रखकर रक्सौल भेज दी गई। मूर्ति अभी नेपाल भी नहीं पहुँचने पाई थी कि नेपाल के सभी भिक्षु राजाज्ञा से निर्वासित कर दिए गए, किंतु जब से मूर्ति का नेपाल में शुभागमन हुआ, तब से अहर्निश धर्म की उन्नति हो रही है। स्थविरवाद बौद्ध धर्म धीरे-धीरे सारे नेपाल में फैलता जा रहा है। इस मूर्ति की महिमा को साधारण लोग विशेष रूप से सुनाते हैं।

आनंदकुटी-विहार ऐसे स्थान पर बना है, जहाँ सुंदर वृक्षों की वाटिका है, जिसमें बंदर सर्वदा क्रीडा करते रहते हैं। नाना प्रकार के पक्षी कलरव किया करते हैं। ऊपर की ओर प्रसिद्ध स्वयंभू-चैत्य है, और उत्तर-पश्चिम दिशा में जामाचो आदि पर्वत-शिखरों के ऊपर से हिमाच्छादित हिमालय के शिखर दिखाई देते हैं, जिन्हें देखकर विदेशी यात्री अपना सौभाग्य मानते हैं। पूर्व-उत्तर ओर काठमाडू नगर की ऊँची-ऊँची अट्टालिकाओं का मन मोहक दृश्य आँखों के सामने आता है, और विशाल खास्ति (बोधा)-चैत्य अपना सिर सर्वोन्नत किए नेपाल के अतीत बौद्ध-धर्म की उन्नतावस्था का स्मरण दिलाता है।

गोपुच्छ-पर्वत के एक भाग में स्थित आनंदकुटी अत्यंत रमणीय और भिक्षुओं के लिये सुखप्रद है। इस प्रदेश की स्वयंभू-पुराण में बड़ी प्रशंसा की गई है, और इसे महापवित्र बतलाया गया है।

प्रत्येक पूर्णिमा को कांतिपुर के उपासकों से विहार भर जाता है। प्रातःकाल नगरवासी संपूर्ण बौद्धोपासक-उपासिकाएँ खाद्य-भोज्य तथा छोटे-छोटे पात्रों में चावल और पैसे लिए हुए विहार में आती हैं, एवं प्रेम तथा श्रद्धा के साथ भिक्षुओं को दान देती हैं। प्रातः-सायं बुद्ध-पूजा और धर्मोपदेश होता है। दोपहर में प्रायः सभी वहीं भोजन

करते हैं। उपासकों में भाँजा बँधा हुआ है, अपने भाँजा के दिन प्रत्येक उपासक वहाँ आए हुए सभी उपासक-उपासिकाओं के भोजन का प्रबंध करता है।

मैंने इसी विहार को अपना केंद्र बनाया, और ख़ास नेपाल के दर्शनीय स्थानों का परिभ्रमण किया। चूँकि यह अपना विहार था, अपने गुरुभाइयों का था, क्योंकि नेपाल-वाले सभी भिक्षु, अनागारिका और श्रामणेर हमारे पूज्यपाद गुरुवर भारतीय संघनायक श्रीचंद्रमणि महास्थविर के ही तो शिष्य हैं, और सभी कुशीनगर में कुछ दिन रहकर पढ़े हैं, नेपाल में स्थविरवाद बौद्ध धर्म के प्रचारक भी तो हमारे गुरुवर ही हैं, अतः आनंदकुटी को केंद्र बनाने में मुझे विशेष प्रसन्नता थी।

यात्रा-हेतु जहाँ भी जाता, लौटकर आनंदकुटी में ही आकर विश्राम करता। मैंने ख़ास नेपाल में अठारह दिन अपना समय व्यतीत किया था, जिनमें से केवल तीन ही रात पाटन, भातगाँव और नमोबुद्ध में रहा था। जब मैं यात्रा करके आनंदकुटी लौटता, तो उपासक-उपासिकाओं की भीड़ हो जाती। आनेवाले व्यक्तियों में कोई उपदेश सुनने की लालसा-वाला होता, तो कोई शास्त्रार्थ या वाद-विवाद करने की इच्छा-वाला। मत पूछो, इसी बीच एक दिन एक प्रसिद्ध संन्यासी बौद्ध-धर्म के अनीश्वरवाद पर शास्त्रार्थ करने के लिये अपने चेला-चाटियों के साथ आ डटे। मैं अभी-अभी थका-माँदा यात्रा करके लौटा था, किंतु क्या 'ईश्वर'-जैसे 'काल्पनिक हौवा' से कोई बौद्ध-बच्चा भी कभी डरनेवाला है? आचार्य धर्मकीर्ति के ही शब्दों में—

> वेदप्रामाण्यं कस्यचित् कर्तृवादः
> स्नाने धर्मेच्छा जातिवादावलेपः;
> सन्तापारम्भः पापहानाय चेति
> ध्वस्त प्रज्ञानां पंच लिंगानि जाड्ये।

हास सुनाया। उन्होंने बतलाया कि वह सन् १६४४ में कुशीनगर गए। उस समय मैं भी वहाँ था। मूर्ति को लाने के लिये एक बक्स तैयार किया गया, उसमें मूर्ति रखकर रक्सौल भेज दी गई। मूर्ति अभी नेपाल भी नहीं पहुँचने पाई थी कि नेपाल के सभी भिक्षु राजाज्ञा से निर्वासित कर दिए गए, किंतु जब से मूर्ति का नेपाल में शुभागमन हुआ, तब से अहर्निश धर्म की उन्नति हो रही है। स्थविरवाद बौद्ध धर्म धीरे-धीरे सारे नेपाल में फैलता जा रहा है। इस मूर्ति की महिमा को साधारण लोग विशेष रूप से सुनाते हैं।

आनंदकुटी-विहार ऐसे स्थान पर बना है, जहाँ सुंदर वृक्षों की वाटिका है, जिसमें बंदर सर्वदा क्रीड़ा करते रहते हैं। नाना प्रकार के पक्षी कलरव किया करते हैं। ऊपर की ओर प्रसिद्ध स्वयंभू-चैत्य है, और उत्तर-पश्चिम दिशा में जामाचो आदि पर्वत-शिखरों के ऊपर से हिमाच्छादित हिमालय के शिखर दिखाई देते हैं, जिन्हें देखकर विदेशी यात्री अपना सौभाग्य मानते हैं। पूर्व-उत्तर ओर काठमांडू नगर की ऊँची-ऊँची अट्टालिकाओं का मन मोहक दृश्य आँखों के सामने आता है, और विशाल खास्ति (बोधा)-चैत्य अपना सिर गर्वोन्नत किए नेपाल के अतीत बौद्ध-धर्म की उन्नतावस्था का स्मरण दिलाता है।

गोपुच्छ-पर्वत के एक भाग में स्थित आनंदकुटी अत्यंत रमणीय और भिक्षुओं के लिये सुखप्रद है। इस प्रदेश की स्वयंभू-पुराण में बड़ी प्रशंसा की गई है, और इसे महापवित्र बतलाया गया है।

प्रत्येक पूर्णिमा को कांतिपुर के उपासकों से विहार भर जाता है। प्रातःकाल नगरवासी संपूर्ण बौद्धोपासक-उपासिकाएँ खाद्य-भोज्य तथा छोटे-छोटे पात्रों में चावल और पैसे लिए हुए विहार में आती हैं, एवं प्रेम तथा श्रद्धा के साथ भिक्षुओं को दान देती हैं। प्रातः-सायं बुद्ध-पूजा और धर्मोपदेश होता है। दोपहर में प्रायः सभी वहीं भोजन

करते हैं। उपासकों में भौंजा बँधा हुआ है, अपने भौंजा के दिन प्रत्येक उपासक वहाँ आए हुए सभी उपासक-उपासिकाओं के भोजन का प्रबंध करता है।

मैंने इसी विहार को अपना केंद्र बनाया, और ख़ास नेपाल के दर्शनीय स्थानों का परिभ्रमण किया। चूँकि यह अपना विहार था, अपने गुरुभाइयों का था, क्योंकि नेपाल-वासी सभी भिक्षु, अनागारिका और आमतौर हमारे पूज्यपाद गुरुवर भारतीय संघनायक श्रीचंद्रमणि महास्थविर के ही तो शिष्य हैं, और सभी कुशीनगर में कुछ दिन रहकर पढ़े हैं, नेपाल में स्थविरवाद बौद्ध धर्म के प्रचारक भी तो हमारे गुरुवर ही हैं, अतः आनंदकुटी को केंद्र बनाने में मुझे विशेष प्रसन्नता थी।

यात्रा-हेतु जहाँ भी जाता, लौटकर आनंदकुटी में ही आकर विश्राम करता। मैंने ख़ास नेपाल में अठारह दिन अपना समय व्यतीत किया था, जिनमें से केवल तीन ही रात पाटन, भातगाँव और नमोबुद्ध में रहा था। जब मैं यात्रा करके आनंदकुटी लौटता, तो उपासक-उपासिकाओं की भीड़ हो जाती। आनेवाले व्यक्तियों में कोई उपदेश सुनने की लालसा-वाला होता, तो कोई शास्त्रार्थ या वाद-विवाद करने की इच्छा-वाला। मत पूछो, इसी बीच एक दिन एक प्रसिद्ध संन्यासी बौद्ध-धर्म के अनीश्वरवाद पर शास्त्रार्थ करने के लिये अपने चेला-चाटियों के साथ आ डटे। मैं अभी-अभी थका-माँदा यात्रा करके लौटा था, किंतु क्या 'ईश्वर'-जैसे 'काल्पनिक हौवा' से कोई बौद्ध-बच्चा भी कभी डरनेवाला है? आचार्य धर्मकीर्ति के ही शब्दों में—

वेदप्रमाण्यं कस्यचित् कर्तृवाद:
स्नाने धर्मेच्छा जातिवादावलेप: ;
सन्तापारम्भ: पापहानाय चेति
ध्वस्त प्रज्ञानां पंच लिंगानि जाड्ये।

वेद को प्रमाण मानना, किसी ईश्वर को जगत् का कर्ता कहना, स्नान से धर्म चाहना, जाति की बात का अभिमान, पाप नाश करने के लिये संताप (उपवास आदि) करना—ये पाँच बुद्धि-भ्रष्ट हुए लोगों की जड़ता के चिह्न हैं।

उन्होंने अनात्मवाद पर भी प्रश्न किए, और प्रश्नोत्तर के पश्चात् धीरे से उठकर अपनी राह ली। मैं नहीं चाहता कि किसी को मेरे द्वारा कष्ट पहुँचे, किंतु मैं जानता हूँ कि उस दिन उन्हें अवश्य कुछ मानसिक कष्ट हुआ था। कष्ट का होना स्वाभाविक भी था, क्योंकि वह थे पूरे 'ईश्वर' और 'आत्मवाद' को माननेवाले, और मेरे शास्त्र के वचनों में वे 'वाद' "केवलो परिपूरो बाल-धम्मो" संपूर्णतः बाल-धर्म हैं।

आनंदकुटी में रहते समय मुझे दो दिन धर्मोपदेश भी देना पड़ा था, यों तो परित्राण-पाठ, दानानुमोदन, पुण्यानुमोदन आदि नित्य ही करना होता था।

मेरे पूज्य गुरुभाई भदंत धम्मालोकजी ने मेरे रहने का बड़ा अच्छा प्रबंध किया था। हम दोनो आनंदकुटी की ऊपरी मंज़िल में रहते थे। ऊपरी मंज़िल में तीन कोठरियाँ हैं। बिचली कोठरी में कुशीनगर से आई हुई भगवान् की एक संगमरमर की सुंदर मूर्ति और पालि त्रिपिटक अट्ठकथा तथा टीका से भरी हुई एक अलमारी है, जिन्हें भदंत ऊ कित्तिमा स्थविर (सारनाथ) ने इस विहार को प्रदान किया था। प्रकाश का पूरा प्रबंध है, प्रत्येक कोठरी में बिजली के बल्ब लगे हुए हैं। रात्रि में विहार प्रकाशित रहता है।

जब हम लोग आनंदकुटी पहुँचे, तो देखा कि ज्ञानरत्न उपासक भोजन बना रहा था, और भिक्षु रत्नज्योतिजी एक कोठरी में बैठे ध्यान-मग्न थे। ज्ञानरत्न ने हम लोगों को देखते ही श्रीरत्नज्योतिजी का ध्यान भंग कराया, और स्वागत के लिये आ पहुँचा। कुशल-

क्षेम पूछने के पश्चात् हम लोगों ने हाथ-पैर धोए, और भोजन किया। भोजनोपरांत थोड़ी देर विश्राम किया और फिर स्वयंभू-चैत्य का दर्शन करने गए।

स्वयंभू-चैत्य

स्वयंभू-चैत्य आनंदकुटी के पास, काठमाडू नगर के पश्चिम ओर विष्णुमती-नदी के पार, नगर के भूमि-तल से दो सौ पचास फ़ीट ऊँचे एक पर्वत-शिखर पर, स्थित है। चंद्रागिरि से भी यह अपने दोनों जुड़वों के साथ दिखाई देता है। यह नेपाल का सर्वश्रेष्ठ बौद्ध-तीर्थ है। स्वयंभू-पुराण का तो यहाँ तक दावा है—

"पुण्यक्षेत्रेषु तीर्थेषु विहारे सौगतालये;
सम्बुद्धानां च सर्वेषां चैत्येसु प्रतिमासु च।
बुद्धक्षेत्रेषु सर्वेषु तद्गतस्थान मुत्तमम्;
तदुत्तमं समाख्यातं स्वयम्भूक्षेत्र मुत्तमम्।

चैत्य विशाल और भव्य है। इसका ऊपरी भाग सोने से मढ़ा हुआ है। इसके चारों ओर भगवान् की मूर्ति के साथ चार अन्य भी मूर्तियाँ बनी हुई हैं। नीचे पुष्पासन के पास चारों ओर ताखे में अक्षोभ्य, अमिताभ, अमोघसिद्धि, तारा, वैरोचन, रत्नसंभव की मूर्तियाँ बनी हुई हैं। सब पर सोना मढ़ा हुआ है। चैत्य के किनारे चारों ओर ताँबे की मानी (तिब्बती लोगों का पूजा-चक्र) बनी हुई हैं, जो प्रत्येक दो मूर्तियों के बीच अट्ठाइस हैं। सब पर 'ओं मणि पद्मे हुँ' लिखा हुआ है, जिन्हें सब लोग अपने हाथों से घुमाते जाते हैं।

यद्यपि चैत्य बहुत पुराना नहीं है, किंतु स्वयंभू-पुराण में इसको अत्यंत प्राचीन बतलाया गया है। उसमें वर्णित माहात्म्य और इतिहास के अनुसार इस चैत्य की पूजा करने के लिये विपश्यी, शिखी विश्वभू, ककुच्छंद, कनकमुनि, काश्यप और शाक्यसिंह भगवान् गौतम बुद्ध भी नेपाल आए थे, तथा इस चैत्य का निर्माण काश्यप

भगवान् के समय में शांतिकर आचार्य द्वारा हुआ था ; किंतु स्वयंभू-पुराण के ही अनुसार विचार करने पर चैत्य नवीं शताब्दी के पूर्व का निर्मित हुआ जान पड़ता है। जो भी हो, नेपाल-वासियों के लिये तो लंका के सुवर्णमाली-चैत्य और बर्मा के श्वेदगोपेगोडा से इसका कम महत्त्व नहीं है।

समय-समय पर इसकी मरम्मत भी होती रही है। ई० सन् १६०५ में सर्व प्रथम राजा शिवसिंह ने इसकी मरम्मत कराई थी, फिर सन् १६४१ में एक भोट देशवासी ने इसके प्राचीन गर्भ-काष्ठ को बदलवा कर वहाँ की मूर्तियों को ऊपर ताखों में लगवा दिया था। सन् १६५१ में राजा प्रताप मल्ल ने भी चैत्य की मरम्मत कराई, और स्वयंभू के माहात्म्य को पत्थरों पर खुदवाया था।

स्वयंभू-चैत्य के दाहने पार्श्व में अग्निपुर और बाएँ पार्श्व में प्रतापपुर-नामक दो बड़े मंदिर हैं। दोनो की बनावट एक-सी है। ये यहाँ के प्रसिद्ध देवालय हैं। स्वयंभू-चैत्य के पूरब ओर ऊँची इमारत पर खड़े होकर देखने से सारी नेपाल-उपत्यका दिखाई देती है। काठमांडू, पाटन, भातगाँव, कीर्तिपुर और चोभारदारा नगरों का बड़ा ही मनोमोहक दृश्य दिखाई पड़ता है। धरोग्वरा (नेपाल-स्तंभ), खास्ति (बोधा) चैत्य, वाग्मती और विष्णुमती का जलप्रवाह तथा हरे-भरे खेतों का दृश्य देखते बनता है।

स्वयंभू-चैत्य के पास पश्चिम-दक्षिण कोने में एक छोटा-सा वायु देवता का मंदिर है, जिसमें सर्वदा खून के छींटे पड़े दिखाई देते हैं। वहाँ हिंदू और बौद्ध समय-समय पर बलि चढ़ाते हैं। लोगों ने हमें बतलाया कि इसके लिये पर्याप्त आंदोलन हुआ है। अब बौद्ध बलि नहीं चढ़ाते, हिंदुओं की बलि भी प्रायः बंद-सी ही है। ऐसे पवित्र स्थान के पास पशु-बलि का होना, कितना महापाप और घृणोत्पादक है।

:

स्वयंभू-चैत्य के वायव्य कोण पर अजिता का मंदिर है, जो पिछले काल के एक राजा द्वारा निर्मित किया गया था। यहाँ हिंदू और बौद्ध, दोनो पूजा करते हैं।

स्वयंभू-चैत्य की उत्तर ओर शांतिपुर-नामक एक मंदिर है। कहते हैं, शांतिकर आचार्य ने यहीं तपस्या की थी, और स्वयंभूधर्मधातु को उन्होंने ही गुप्त किया था। यह भी कहते हैं कि शांतिपुर की सुरंग स्वयंभू तक जाती है। स्वयंभू-पुराण में इसका बहुत सुंदरता के साथ वर्णन किया गया है। लोगों का विश्वास है कि जब पानी नहीं बरसता है, तब शांतिपुर-मंदिर की सुरंग के द्वार खोलकर पूजा करने से वृष्टि होती है। नेपाल मे मेरे रहते समय एक दिन पूजा की गई थी, और वर्षा भी हुई थी। आज का वैज्ञानिक युग इसे जो कुछ कहे, किंतु नेपालवासी बौद्धों का पक्का विश्वास है कि वर्षा नागों के प्रताप से होती है।

स्वयंभू-चैत्य के पास अनेक मूर्तियाँ और छोटे-छोटे चैत्य बने हुए हैं। भगवान् की विभिन्न मुद्राओं की विशाल मूर्तियों को देखते हुए चित्त प्रसन्न हो जाता है।

स्वयंभू-चैत्य से पूरब ओर नीचे उतरने के लिये चार सौ सीढ़ियाँ बनी हुई हैं। ऊपर से उन्हें देखते हुए हृदय काँपने लगता है। यद्यपि सीढ़ियाँ बहुत सुंदर हैं, तथापि पैर फिसलने का डर रहता है। जिस समय हम लोग उनमें उतर रहे थे, एक मधेशिया यात्री ने हमसे कहा—"बाबाजी! कोई मंत्र दीजिए कि मैं ऊपर चला जाऊँ।" बेचारा नीचे से ऊपर चढ़ते हुए परेशान हो गया था। सीढ़ियों पर भी अनेक मूर्तियाँ बनी हुई हैं, जिनमें क्रमशः सिंह, हस्ति, अश्व, मयूर और गरुड़ की हैं। नीचे गणेश और भैरव की भी मूर्तियाँ बनी हुई हैं। पार्श्व में भगवान् की बड़ी-बड़ी मूर्तियों को देखते हुए हमें लंका के पोलोन्नरुव की बुद्ध-प्रतिमाओं का स्मरण हो आता था।

स्वयम्भू-चैत्य का पर्वत घने वृक्षों से ढँका हुआ है। उसमें नाना प्रकार के पक्षी कूजा करते हैं। लाल बंदर एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष पर कूद-कूदकर क्रीड़ा किया करते हैं। स्वयंभू-पुराण के अनुसार इस पर्वत का नाम 'गोपुच्छ'-पर्वत है।

काठमांडू नगर और उसका परिभ्रमण

नौ मार्च को महाशिवरात्रि थी। हम लोग भोजनोपरांत पशुपति-नाथ का मंदिर देखने गए। आज यात्रियों की इतनी भीड़ थी कि मार्ग में चलना कठिन हो गया था। मदरासी, बंगाली, गुजराती यात्रियों की संख्या अपेक्षाकृत इस वर्ष कम थी। पशुपतिनाथ का मंदिर वाग्मती - नदी के दाहने किनारे पर स्थित है। मंदिर सुंदर और विशाल है। मैंने बचपन में सुन रक्खा था कि इस मंदिर में पारसनाथ हैं। प्रतिवर्ष महाशिवरात्रि में सवामन लोहा उनसे स्पर्श कराया जाता है; वह स्पर्श-मात्र से सोना हो जाता है, जिससे नेपाल का राजा यात्रियों के खाने-पीने का प्रबंध करता है। मैं तो पहले इसे मुँह से निकालने से भी डरता था। जानता था कि भारत के ग्रामीणों में यह उपाख्यान यों ही फैल गया है, किंतु मंदिर के पास पहुँचकर मुझसे नहीं रहा गया। मैं पूछ ही बैठा, लोग मेरी बातों को सुनकर हँसने लगे। मुझे बड़ी लज्जा हो आई। जब दूसरी ओर गया, तो एक बुढ़िया मुझसे पूछने लगी—"बाबाजी! पारसनाथ का दर्शन कब मिलेगा?"

"अभी अंदर जाओ, और दर्शन करो। फाटक खुला है।" मैंने कहा।

"लोहा कब स्वर्ण होगा?"

"कैसा?"

"प्रतिवर्ष लोहे को स्पर्श कराके सोना बनाया जाता है न?"

मैं चुप हो गया, किंतु मेरे साथी हँसने लगे।

मंदिर के चारों ओर भारतीय साधुओं की धूनियाँ सुलग रही थीं। नंगे साधुओं की ही संख्या अधिक थी। हम लोग मंदिर को देखकर कोटि महादेव को देखते हुए गुंजेश्वरी (गुह्येश्वरी) को देखने गए।

गुंजेश्वरी एक प्रसिद्ध मंदिर है। यहाँ भोटिया लोग अधिक रहते हैं। मंदिर सुंदर और भव्य है। यहाँ एक कुंड है, जिसमें सर्वदा पानी भरा रहता है, वह कम या अधिक नहीं होता। लोग उसमें भूजी हुई मछली और अंडे डालते हैं। कहते हैं, उसमें हाथ डालने पर जिसे अंडा या मछली मिल जाती है, वह बड़ा भाग्यवान् होता है। अपने भाग्य की परीक्षा करने के लिये सर्वदा यहाँ लोग आया करते हैं। आश्चर्य होता है कि जो अंडे और मछलियाँ इसमें डाली जाती हैं, वे ख़राब नहीं होतीं।

वहाँ से हम लोग स्वास्ति-चैत्य को देखने गए। इसे बोधा-चेतर भी कहते हैं, किंतु भोटिया लोग इसे छोर्तन-रिंबोछे (चैत्य रत्न) या बल्युल-छोर्तन (नेपाल-चैत्य) के नाम से जानते हैं। यह चैत्य महा विशाल है। इसके चारों ओर घर बने हुए हैं, जिनमें प्रायः भोटिया लोग रहते हैं। जाड़े के दिनों में तो यह भोट देश-सा हो जाता है। भोटियों के लिये नेपाल का यह सबसे पवित्र तीर्थ-स्थान है। नेपाल में इसके सदृश ऊँचा और विशाल दूसरा चैत्य नहीं है। इसका निचला भाग अनेक भुजाकार और ऊपरी भाग गोलाकार है। शिखर सुवर्णान्वित है। कहते हैं, इस चैत्य को महाराज अशोक ने बनवाया था।

हम लोगों ने चैत्य की वंदना की, और धन्य-देग (अशोक-चैत्य), काठो सँभू (काशी-स्वयंभू) को देखते, काठमाडू नगर का परिभ्रमण करते हुए आनंदकुटी लौट आए।

काठमाडू नगर के कई नाम हैं। इसे गोरखा लोग काडमाडौं,

नेवार लोग यें और सर्वसाधारण कांतिपुर नाम से पुकारते हैं। प्राचीन ग्रंथों में मंजुपट्टन नाम मिलता है। यह नेपाल की वर्तमान राजधानी है। प्राचीन काल में कांतिपुर, पाटन, कीर्तिपुर और भातगाँव समय-समय पर नेपाल की राजधानी रहे। इन चारों नगरों के चतुर्दिक् दृढ़ प्राकार बने हुए थे, किंतु गोरखा राजाओं के समय से धीरे-धीरे गिरकर नष्ट हो गए, फिर भी उनके चिह्न अब तक अवशेष हैं।

काठमांडू नगर की जन-संख्या १०८,८०५ है। इसमें नेवार-जाति के लोग ही अधिक बसते हैं; कुछ गोरखा, भोटिया और मुसलमान भी हैं। नगर अनेक मुहल्लों या टोलों में विभक्त है। यद्यपि नगर में म्युनिसिपैलिटी का प्रबंध है, तथापि नगर प्रायः गंदगियों से भरा रहता है; सफाई का ध्यान नहीं रक्खा जाता है। आनंदकुटी से काठमांडू जाते हुए, ज्यों विष्णुमती के पुल के पास पहुँचते हैं, हाथ को झट नाक पर ले जाना पड़ता है। गलियों में कूड़ा-करकट और अनेक प्रकार की सड़ी-गली चीज़ें देखने को मिलती हैं, जिन्हें देखते ही घृणा होने लगती है; कई टोलों में तो खुलेआम सड़क पर भैंस आदि को भी हलाल करते हैं। एक दिन मैं धम्मालोकजी के साथ एक संभ्रांत उपासक के घर उनके पिता के जन्मोत्सव के दान को ग्रहण करने जा रहा था कि सहसा मार्ग में एक बहुत बड़ी भैंस को मारते हुए देखकर कलेजा काँप उठा। वहाँ से आगे बढ़ने की हिम्मत नहीं हुई। किंतु मैं निमंत्रित था, किसी प्रकार आगे गया, और जब तक आनंदकुटी में रहा, फिर कभी उस रास्ते जाने का नाम नहीं लिया।

संवत् १९९० के भीषण भूकंप में इस नगर को बहुत बड़ी क्षति का सामना करना पड़ा था। उस समय नेपाल के ८,५१९ स्त्री-पुरुष भूकंप के शिकार हो गए थे, और २,०७,७४० मंदिरों तथा गृहों ने धराशायी होकर नेपाल की प्राचीन स्थापत्य-कला को आघात पहुँचाया

था। केवल काठमांडू में ही भीतर-बाहर सब मिलाकर ७३४ प्राणियों की जीवन-लीला संवरित हो गई थी! घंटाघर, विष्णुमती का पुल, टुंडिखेल, भोटाहिरिटोल, मखनटोल, जमल, हनुमान ढोका आदि ध्वस्त हो गए थे। मत पूछो, उस समय काठमांडू की नर-नारियों पर कैसी बीती! नेपाल का शासक-वर्ग यद्यपि शोषणता का पुजारी है, तथापि उस समय उसने जी-जान से गृह-विहीन जनता की जिसे कि नेपालवासी उन्मुक्त कंठ से प्रशंसा करते हैं। उसके पीछे काठमांडू की कुछ सड़कें पक्की कराई गईं, और नगर के कुछ भाग को सजाया गया, जिसे देखकर विदेशी दर्शक को कलकत्ता, दिल्ली, बंबई, कोलंब आदि की सड़कों का स्मरण हो आता है।

कहते हैं, इस नगर का काठमांडू नाम मरू टोल के काष्ठ के बने मरुद्यू (काष्ठ मंडप) के कारण पड़ा है। किंवदंती है कि इसका निर्माण सन् १८६६ ई० में राजा लक्ष्मीन्द्रसिंह मल्ल द्वारा एक ही वृक्ष के काष्ठ से हुआ था।

नगर में तुलजादेवी का मंदिर, श्री ५ महाराजाधिराज का नारायणहिटी दरबार, श्री ३ महाराज का सिंहदरबार; पूर्व के राजाओं का हनुमान ढोका, नवीन सरस्वती-सदन, नेपाल का एकमात्र कॉलेज, राज्य पुस्तकालय, संग्रहालय, अस्पताल और सैनिक-शिक्षण के मैदान देखने योग्य हैं। नगर में पावर-हाउस भी है, जिससे संपूर्ण नेपाल-उपत्यका में रोशनी का प्रबंध होता है।

वाग्मती और विष्णुमती-नदियों के बीच बसा हुआ यह नगर प्राकृतिक सौंदर्य से ऐसा रमणीय है कि देखकर सदा मन बहला रहता है। उत्तर में शिपू चो और जामा चो दक्षिण में ढीला चो, दक्षिण-पूर्व में फूलौ चो और दक्षिण-पश्चिम में चंद्रागिरि की पर्वत-मालाओं के ऊँचे-ऊँचे शिखरों ने इसे अजेय दुर्ग-सा बना दिया है। अन्न-जल से पूर्ण यह नगर यदि सुचारु रूप से शासित होता, और

राणाशाही जनता के सुख-दुःख को जानकर उसके हितार्थ कार्य करती, तो कोई कारण न था कि वहाँ के सोना उगानेवाले किसान दुःखी होते, और उनके अधिकांश ब्वेत प्रधान मंत्रियों के कंपाउंड बन जाते।

नगर में प्रायः सभी घर दुमंज़िले या तिमंज़िले हैं। इस बात ने मुझे विशेष रूप से आकर्षित किया कि निर्धन किसानों, मज़दूरों और दुखी भक्तियों के भी घर दुमंजिले हैं। वहाँ घर प्रायः लकड़ी और पत्थर से बनते हैं। अब कुछ ईंट और सीमेंट से भी बनने लगे हैं। इन घरों के दरवाज़े बहुत छोटे होते हैं। घर में प्रवेश करते समय यदि सँभल-कर न चला जाय, तो सिर फूटने का डर रहता है। मुझे नेपाल में लगभग एक सप्ताह तक घरों में जाते समय सिर सहलाना पड़ा था।

घरों के संबंध में यह भी एक मज़े की बात है कि राणाशाही के आतंक से साधारण लोग अपने घरों के बाहरी भाग की सफ़ेदी नहीं कराते, और न उसे सुंदर ही बनाते हैं। उन्हें डर लगा रहता है कि कहीं राणा लोगों की आँख उन पर न पड़ जाय, और उनकी सारी संपत्ति राजकीय कोष में चली जाय।

नगर में सवारी का प्रबंध बिलकुल नहीं है। हो भी क्यों? राणा लोगों के आगे कौन सवार होगा? जो लोग मोटर रखना चाहते हैं, उन्हें भी राणा लोगों से अनुमति लेनी पड़ती है।

ह्यूआन्-त्सु आङ् ने लिखा है—"राजधानी के दक्षिण-पूर्व एक छोटा-सा चश्मा और कुंड है। यदि इसमें अंगारा फेंका जाय, तो तुरंत ज्वाला प्रकट हो जाती है। अन्यान्य वस्तुएँ भी डालने पर जल-कर कोयला हो जाती हैं।" मैंने इस संबंध में बहुत पूछ-ताछ की, किंतु कुछ पता नहीं लगा कि वह चश्मा और कुंड कहाँ था?"

काठमाडू का किंडोल विहार भी एक प्रसिद्ध और पुराना विहार है,

-चैत्य के सन्निकट एक ऊँचे स्थान पर बना है। नेपाल का
पहले इसी विहार में रहता था, किंतु अब इसमें अना-

स्वयंभू-चैत्य का एक दृश्य

रहती है।
अना-
धर्मचारी
र है, जहाँ
के सुप्रसिद्ध
भाँति एक
दि का
रहा है।
ने बुद्ध-
दाय-संबंधी
र होगा।
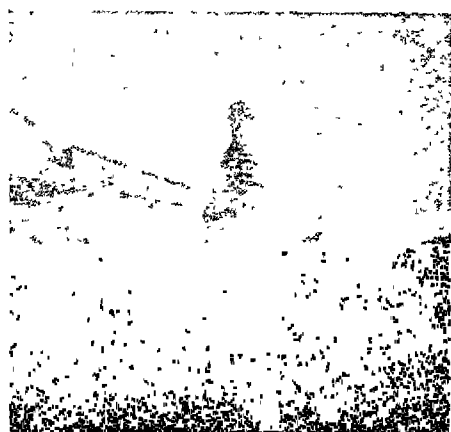
स्वयंभू-चैत्य

पाटन

दस मार्च को प्रातः आनंद-कुटी में प्रातराश करके हम लोगों ने पाटन के लिये प्रस्थान किया। आज हमारे साथ उपासक श्रीधर्मरत्न 'यमि' और श्रीपूर्णमान साहु थे। वाग्मती के विशाल सेतु को पार कर पाटन के प्रवेश-द्वार का निरीक्षण करते हुए 'धर्मंगल' विहार में गए।

वहाँ पहुँचकर देखा, विहार उपासक - उपासिकाओं से भरा हुआ था। कोई व्यक्ति पंचशील ले रहा था, तो कोई अष्टशील। उपोसथ का दिन था। भिक्षु बुद्धघोष से मेरा परिचय न था, किंतु वह मुझे भली भाँति जानते थे। भदंत बुद्धघोष ही इस विहार में रहकर स्थानीय बालकों को धर्म पढ़ाते तथा उपोसथ के दिन बौद्ध उपासक-उपासिकाओं को 'शील' देकर धर्मोपदेश देते हैं। उनसे मिलकर मुझे विशेष प्रसन्नता हुई। उनका स्वभाव मृदु और मधुर है। सदा हँसमुख रहते हैं। नेपाल में रहते समय वह सर्वदा मुझसे कुछ-न-कुछ पूछते ही रहे। 'धम्मसाकच्छा' से उन्हें ऊबना तो आता ही नहीं। कभी-कभी घरों में भोजनोपरांत भी प्रश्न कर बैठते थे।

आज किंडोल विहार की सभी अनागारिकाएँ आई हुई थीं। यहीं चंद्रशीला अनागारिका भी अपनी मा और प्यारे पुत्र 'चेतिया' के साथ दर्शनार्थ आईं। उसने हमें अपने घर सम्यक् दान-महोत्सव के दिन भोजन के लिये निमंत्रित भी किया।

धर्मंगल विहार छोटा, किंतु प्राचीन है। विहार के आँगन में एक छोटा-सा चैत्य भी है। ऐसे चैत्यों से नेपाल-उपत्यका भरी हुई है। इनकी संख्या काठमांडू में भी कम नहीं है, जिधर देखो, उधर चैत्य-

ही-चैत्य दिखाई देते हैं। किंतु पाटन में जितने चैत्य हैं, उतने तो नेपाल-उपत्यका में अन्यत्र कहीं नहीं। कहते हैं, पाटन में इनकी संख्या तेरह सौ है। पूजा के दिनों में प्रत्येक चैत्य पर एक-एक नेपाली पैसा चढ़ाने से तेरह रुपए व्यय हो जाते हैं। इन चैत्यों को देखकर प्राचीन काल में नेपाल में बौद्ध-धर्म के स्वर्ण-युग का स्मरण हो आता है।

मुझे पाटन को देखने की बहुत दिनों से इच्छा थी, क्योंकि इसका प्राचीन समय में भारत से प्रगाढ़ संबंध था। कहते हैं, सम्राट् अशोक बौद्ध-तीर्थों की यात्रा करते हुए अपनी पुत्री चारुमती के साथ यहाँ आए थे। उन्होंने ही इस नगर का निर्माण कराया था, और अशोकपट्टन नाम रक्खा था। चारुमती के पति देवपाल ने यहीं बसने की इच्छा की थी, अतः उन्होंने यहाँ भिक्षु-भिक्षुणियों के लिये मठ बनवाया था।* अशोक ने भी इस नगर को बसाकर पाँच स्तूपों का निर्माण कराया था, जो आज तक वर्तमान हैं, और जिन्हें 'थूर' नाम से पुकारते हैं। सम्राट् अशोक इस नगर को बहुत पवित्र समझते थे। उनकी पुत्री चारुमती ने, अपनी बहन संघमित्रा की भाँति भिक्षुणी होकर, इसी नगर में अपने अंतिम दिन व्यतीत किए थे। उसने अपने पति के नाम पर देवपट्टन-नामक नगर भी बसाया था, और एक विहार भी बनवाया था, जो पशुपतिनाथ-मंदिर के उत्तर तरफ़ अब तक वर्तमान है, जिसे 'चाबहील' कहते हैं।

भोजनोपरांत मैं नगर-परिभ्रमण के लिये गया। इस नगर के पाटन, ललितपुर, अशोकपट्टन और यल, चार नाम हैं। यह पुराने समय में बहुत दिनों तक नेपाल की राजधानी रहा। नगर में प्रवेश करते ही जान पड़ता है कि इसका अतीत समृद्धिशाली था। नगर को

---

* देखिए Cambridge History. P. 501.

जन-संख्या १०४,६२८ है, जिनमें नेवार बौद्ध ही अधिक हैं। शि मार्गी हिंदू बहुत थोड़े हैं। इनके घरों की पहचान के लिये ए विशेष बात यह है कि जो बौद्ध होते हैं, उनके द्वार की भीत पर पाँ बुद्धों के चित्र बने होते हैं, और जो शिवमार्गी होते हैं, उनके द्व की भीत पर तोता-मैना या अन्य प्रकार के चित्र।

नगर में बहुत-से प्राचीन विहार हैं, किंतु धर्ममंगल विहार के अ रिक्त और विहारों में परवारी वज्राचार्य, शाक्य भिक्षु, थपाजू आ ही रहते हैं। मैंने क्रमशः गोरखनाथ का मंदिर, ऊवहाल, रुद्रव महाबहाल, महाबौद्ध विहार आदि देखा। पाटन का महाबौद्ध विह प्राचीन नेपाली स्थापत्य-कला का एक महत्त्व-पूर्ण अंश है। इसका निर्माण ठीक बुद्ध-गया के प्रसिद्ध मंदिर की भाँति हुआ है। संवत् १९९० के भूकंप में इसे बड़ी क्षति पहुँची थी। इसके ऊपर का नाग भाग टूटकर गिर पड़ा था, और ताखों में बनी हुई

महाबौद्ध चैत्य पाटन का ऊपरी अंश

सारी बुद्ध-मूर्तियाँ चकनाचूर हो गई थीं। प्राचीन मंदिर विक्रम-संवत् १६०६ में बना था। इसमें ऊपर से नीचे चारों ओर नव सहस्र बुद्ध-मूर्तियाँ अनेक मुद्राओं में बैठाई गई थीं। ध्वस्त होने के पश्चात् पुनः इसका अपने पुराने ढंग पर ही निर्माण हुआ है।

इसके बाद मैंने चाक बहाल (विहार), तौ बहाल (बड़ा विहार), क्वा बहाल (हिरण्यवर्ण महाविहार) देखा। पाटन के विहारों में क्वा बहाल सर्वश्रेष्ठ और कला-पूर्ण है। जैसा इसका नाम है, वैसा ही यह सुवर्णान्वित भी है। इसमें बनी हुई भगवान् की मूर्तियाँ बहुत ही सुंदर और दर्शनीय हैं, जो मिश्रित युग के प्रभाव से वंचित हैं। विहार प्राचीन है। मंदिर के ऊपरी भाग में भगवान् की अनेक मुद्राओं की मूर्तियाँ बनी हुई हैं। लकड़ी पर बने बेल-बूटे देखने योग्य हैं। वहीं पास ही एक गुंबा (विहार) बन रहा है, जिसे तिब्बती लामा लोग बनवा रहे हैं। उसकी भीतों पर तिब्बती चित्रकला के आदर्श में चित्र बनाए जा रहे हैं। बीच में अवलोकितेश्वर की मूर्ति है। गुंबा लकड़ी से बनाया गया है।

वहाँ से मैं दूर्वाथूर देखने गया। यह भी अशोक के बनवाए हुए पाँच चैत्यों में से एक है। अशोक ने चार चैत्य नगर के चारों ओर और एक बीच में बनवाया था। सभी चैत्य विशाल हैं, किंतु कालान्तर से जीर्ण पड़े हैं। इस समय एक का जीर्णोद्धार हो रहा है।

नगर का परिभ्रमण करते समय मैंने अँधेरी कोठरियों में बैठकर तमाम ठठेरों को बर्तन बनाते देखा। श्रीधर्मरत्न 'यमि' ने मुझे बतलाया कि यहाँ बहुत-से ऐसे लोग भी हैं, जो यही काम करते हुए अपना सारा जीवन घरों में ही बिता देते हैं। उन्हें और दीन-दुनिया से कोई मतलब नहीं। वे अपने कार्य को छोड़कर इधर-उधर जाना

अच्छा नहीं समझते। पाटन धातु के बर्तन, लकड़ी के सामान तथा दस्तकारी के लिये सारे नेपाल में प्रसिद्ध है।

नगर के बीच में पुराने राजमहल हैं, पर उनमें अब वह छटा कहाँ? गलियों में ईंटें बिछी हुई हैं, जिनसे जान पड़ता है कि किसी समय यह अच्छा नगर रहा होगा, किंतु सफ़ाई का कोई प्रबंध नहीं, गलियाँ काठमांडू से बढ़कर गंदगी से भरी रहती हैं। नगर में पानी के नल और बिजली के तार लगे हुए हैं। लोगों के घर परस्पर सटे हुए बने हैं। बड़ी घनी आबादी है।

मैं नगर के पूरबवाले अशोक चैत्य को देखते हुए चार बजे मंगल विहार लौटा। उस समय बैठते ही उपासक-उपासिकाएँ छोटे-छोटे पात्रों में—जिनमें आधी मुट्ठी चावल ही रक्खा जा सकता है—चावल और एक-एक पैसा ला-लाकर देने लगीं। भिक्षु-नियम के प्रतिकूल होते हुए भी यहाँ की रीति के अनुसार मुझे ग्रहण करना पड़ा। तत्पश्चात् मुझसे धर्मोपदेश के लिये आग्रह किया गया। हिंदी जाननेवाले लोगों की संख्या कम थी, अतः श्रीधर्मरत्न 'यमि' ने मेरे उपदेश का नेवारी-भाषा में रूपांतर किया।

आज उपोसथ का दिन था, अतः संध्या को हम लोग पास की नदी में परिशुद्धि उपोसथ के लिये गए। नेपाल में भिक्षु-सीमा के अभाव के कारण यहाँ के भिक्षुओं को बड़ी कठिनाई उठानी पड़ती है। मैंने पाटन तथा काठमांडू के उपासकों से सर्वदा अपने उपदेशों के समय निवेदन किया कि वे शीघ्रातिशीघ्र नेपाल में भिक्षु-सीमा बनवाएँ। सुनने में आया कि मेरे निवेदन को सुनकर प्रभावित हुए उपासकों ने अब भिक्षु-सीमा की स्थापना करा दी है। किंतु मुझे इसका महान् दुःख भी हुआ कि इस सीमा की स्थापना के समय नेपाल देश में बौद्ध-धर्म के महान् प्रचारक और पुनरुद्धारक, ज्ञानवृद्ध मेरे पूज्य महास्थविरजी नहीं निमंत्रित किए गए, तथा सीमा कुछ

तरुण भिक्षुओं द्वारा ही सम्मत कर ली गई। नेपालवासी भिक्षुओं को अपने गुरुवर की याद भी नहीं आई! मैं इसे कृतघ्नता कहूँ या मूर्खता?

आज की रात वहीं विश्राम किया। दूसरे दिन प्रातः निमंत्रण-पर-निमंत्रण आने लगे। एक प्रधान उपासक का दान स्वीकार करना पड़ा। प्रातराश के पश्चात् मैं बैठा हुआ बातें कर रहा था कि एक उपासक ने हिंदी में एक काग़ज़ पर लिखकर इस प्रश्न को मेरे हाथ में थँमा दिया—

"जीवन का व्यवहार पाँच-कामगुण है,
भव-तृष्णा मिटी है।
नाम-रूप में शून्यता देखता है,
अभी जीवित है।
—ऐसा व्यक्ति अंत में क्या होगा?"

मैंने पहले प्रश्न को बार-बार पढ़ा, और फिर व्याख्या करनी प्रारंभ की—"पहली पंक्ति से स्पष्ट है कि उसमें काम-तृष्णा है। दूसरी पंक्ति से भव-तृष्णा नहीं है। तीसरी पंक्ति से आत्मा जीव या सत्त्व को नहीं मानता है, और चौथी पंक्ति से अभी जीवन का आनंद ले रहा है। इस प्रकार काम-तृष्णा और विभव-तृष्णा के होने से अनेक प्रकार के कुकर्मों को कर दुर्गति को प्राप्त हो नरक में उत्पन्न होगा।"

प्रश्नोत्तर सुनकर सब लोग बहुत प्रसन्न हुए। उस उपासक ने भी संतुष्ट होकर फिर प्रश्न पूछने की हिम्मत न की।

इसी बीच श्रीअश्वघोष श्रामणेर की मा आई, और हमें कुछ रुपयों की पोटली देकर प्रणाम किया। वह अश्वघोष, जिसने कुशीनगर में मेरे पास हिंदी सीखी थी, और लंका गया था, तथा लंका में भी रहते समय तक जिसे मैंने पाली एवं हिंदी पढ़ाई थी, इसी पाटन

नगर का रहनेवाला है। उसका बड़ा भाई भी मुझसे मिला, और पिता भी। मैं उनसे मिलकर बहुत प्रसन्न हुआ। यह भी जानकर हर्ष हुआ कि पहले दिन का भोजन-दान इन्हीं लोगों का था। वे यहाँ के एक बहुत बड़े श्रद्धालु बौद्ध-गृहस्थ हैं, तभी तो अपने वैवाहित नन्हे-से पुत्र बुद्धरत्न को भिक्षु-संघ को सौंप दिया, जिसकी स्त्री अनाथा हो गई है।

दोपहर में निमंत्रित गृहस्थ के घर भोजन करके, दानानुमोदन कर नेपाल के संग्रहालय को देखते हुए आनंद-कुटी लौट आया।

नागार्जुन-शिखर और गुफा

बारह मार्च को विश्राम किया। तेरह को नागार्जुन-पर्वत के चैत्य तथा गुफा के दर्शनार्थ गया। प्रातःकाल श्रीमती मोतीलक्ष्मी उपासिका के घर प्रातराश किया, और नौ बजे लोकरत्न उपासक, धम्मालोकजी, मोतीलक्ष्मी, उसकी छोटी बहन और सिंहली उपासिका के साथ प्रस्थान किया। मोतीलक्ष्मी ने आज दोपहर के भोजन के लिये सारा सामान एक भरिया द्वारा आगे भेज दिया था।

नागार्जुन-पर्वत की चढ़ाई से पूर्व हम लोग बालाजु (ल्हुटी) में पानी की बाईस धारा को देखने गए। यह काठमाडू के उत्तरी भाग में पर्वत के नीचे स्थित है। यहाँ कई पोखरियाँ बनी हुई हैं, जिनमें पानी पर्वत के झरनों से आता है। एक छोटी पोखरी में जलशायी विष्णु की काली, लंबी मूर्ति है। एक में बहुत-सी मछलियाँ पाली गई हैं, जिनकी क्रीड़ा देखकर चित्त प्रसन्न हो जाता है। इन पोखरियों से बाहर बाईस धाराएं निकलकर गिरती हैं, जहाँ लोग स्नान करते हैं। चैत्र-पूर्णिमा को यहाँ एक बहुत बड़ा मेला होता है।

नागार्जुन-पर्वत का दूसरा नाम 'जामा चो' है। इस पर बाघ-सिंह बहुत रहते हैं। गर्मियों में रहने के लिये राणा लोगों की छावनियाँ भी बनी हुई हैं, अतः पर्वत पर चढ़ने से पूर्व विशेष आज्ञा की आवश्यकता होती है। हम लोगों ने ल्हुटी में वहाँ जाने के लिये अनुमति ली, और आगे बढ़े।

पर्वत का निचला भाग देवदारु के वृक्षों से भरा हुआ है। सुगंधित वायु के झोंके चला करते हैं। पर्वत पर जगह-जगह सिंह-बाघ को फँसाने के लिये फंदे बने हुए थे। इस पर्वत की यात्रा

ले-दुकेले नहीं की जाती। लोग झुंड-के-झुंड इकट्ठा होकर नियत पर जाते हैं, फिर भी मैंने बहुत-से लकड़हारों को जहाँ-तहाँ निर्भीक होकर लकड़ी काटते हुए देखा। यद्यपि इस पर्वत के जंगल से लकड़ी काटने की मनाही है, तथापि चोरी से लकड़ी काटने-वालों की संख्या कम न थी। उस भयानक जंगल में उनकी रखवाली ही कौन करता? हम लोग पर्वतीय दृश्यों को देखते हुए चलते जा रहे थे। उत्तर
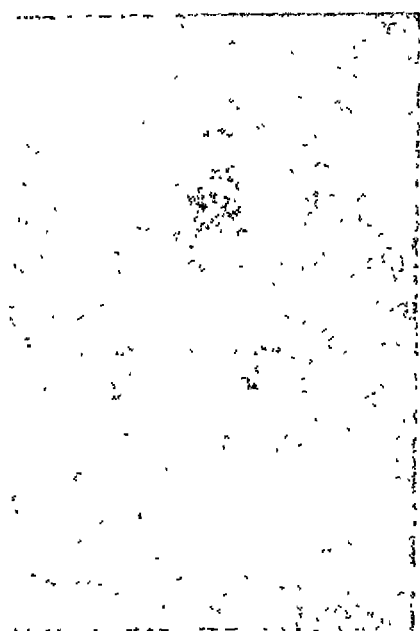
नागार्जुनी चैत्य

में हिमाच्छादित हिमालय की धवल चोटियाँ दिखाई दे रही जन्हें देख-देखकर मैं अपनी अगली यात्रा की मनोमोहक कल्पना हा था। दक्षिण, पश्चिम और पूर्व में ऊँचे-ऊँचे वृक्षों से ढके पाल-उपत्यका के चतुर्दिक् के पर्वत-शिखर बड़े सुंदर जान हे थे। काठमाडू नगर की दोनों नदियाँ, स्वयंभू-चैत्य, खास्ति-आनंद-कुटी और सारा शहर दिखाई दे रहा था। निचली यों में जहाँ-तहाँ बसे हुए गाँवों और लहलहाते हुए खेतों का

दृश्य बड़ा ही सुहावना था। देवदारु और अनेक जंगली वृक्षों के सघन वन को पार करते हुए साढ़े ग्यारह बजे एक स्थान पर जाकर बैठे। अभी पर्वत-शिखर आध मील दूर था; भोजन का समय हो गया था, अतः वहीं भोजन किया। मोतीलक्ष्मी ने झट आग जलाकर चाय भी तैयार कर ली।

हम लोग एक बजे नागार्जुन-शिखर पर पहुँच गए। वहाँ एक प्राचीन चैत्य और धर्मशाला है। चैत्य का नाम 'श्रीवज्रधातु-चैत्य' है। चैत्य सुंदर और ठोस है। इसमें चारों ओर भगवान् की मूर्तियाँ बनी हुई हैं। पास ही शिला-लेख भी लगा हुआ है, जिसमें चैत्य के प्रति संस्करण का वर्णन है। लेख संस्कृत-भाषा तथा नेवारी-लिपि में है। चैत्य घने और ऊँचे वृक्षों से घिरा हुआ है। पौराणिक उपाख्यान के अनुसार कहते हैं कि दीपंकर बुद्ध यहाँ आए थे। चैत्र-पूर्णिमा को सारी नेपाल-उपत्यका के बौद्ध लोग यहाँ पूजा करने आते हैं।

मैंने उस चैत्य का फोटो लिया, और नागार्जुनी गुफा के दर्शन की इच्छा प्रकट की। हमारे साथी अनेक बार के आए हुए थे, किंतु उस सघन वन में उन्हें भी मार्ग का ठीक-ठीक ज्ञान न था। हम लोगों ने दो बजे शिखर से पूर्व की ओर उतरना प्रारंभ किया। वृक्षों की सूखी हुई पत्तियों के गिरने से सारा मार्ग ढँक गया था। जूते या चप्पल पहनकर चलना कठिन था। पत्तियों के ऊपर से पैर बड़े ज़ोरों से फिसलता था। कई बार मैं गिरने से बचा। पीछे सब लोगों ने अपने चप्पल और जूते उतारकर भरिया को दे दिए। हम लोग आगे बढ़ ही रहे थे कि उपासक श्रीलोकरत्न ने कहा—"भंते! रास्ता भूल गया, वह तो यहाँ से आध मील ऊपर से होकर जाता है।" हम लोग संदेह में पड़े हुए फिर आध मील ऊपर चढ़े, और बाएँ हाथ एक पगडंडी से उतरना शुरू किया। पत्तियों के गिरने से

पगडंडी स्पष्ट नहीं मालूम होती थी। कभी-कभी सीधी उतराई में वृक्षों और शाखाओं के सहारे उस सघन वन में चलना पड़ता था। अनेक प्रकार के काँटे भी गिरे हुए थे, जो बिना जूते-चप्पल के होने से चभाचभ पैरों में चुभ रहे थे। हमारे साथियों में से अधिकांश काँटों से परेशान हो गए थे।

थोड़ी दूर उतरने पर आगे का मार्ग और भी सघन वन में जाने लगा। हममें से किसी को विश्वास नहीं रहा कि नागार्जुनी गुफा तक पहुँच जायँगे। ऊपर की ओर लौटना भी कठिन था, क्योंकि काफ़ी नीचे उतर आए थे, और दिन भी ढल चुका था। लोकरत्न ने एक वृक्ष पर चढ़कर नीचे घाटी के गाँवों पर दृष्टि डाली, और बताया कि नीचे लगभग तीन मील की दूरी पर गाँव दीख रहा है। अब आगे का मार्ग इतनी अधिक पत्तियों से ढँका हुआ था कि पैर अपने स्थान पर स्थिर नहीं रह सकते थे। लोकरत्न ने इस कठिनता को दूर करने के लिये वृक्षों की छोटी-छोटी दो-तीन टहनियाँ तोड़ीं, और आगे-आगे पत्तियों को हटाना शुरू किया। वह आगे पत्तियों को हटाते जाते थे, तथा हम लोग पीछे-पीछे उतरते जाते थे। इस प्रकार उतरते हुए अचानक चार बजे, दाहने हाथ,थोड़ी दूर पर, लोकरत्न को वह गुफा दिखाई दी। अब हम लोगों की प्रसन्नता का ठिकाना न रहा। गुफा के पास पहुँचकर ज्ञात हुआ कि हम मार्ग नहीं भूले थे, प्रत्युत जिस मार्ग से हम लोग वहाँ पहुँचे थे, वही यहाँ आने का प्रधान मार्ग था।

नागार्जुनी गुफा पर्वत के निचले भाग में स्थित है। यह प्राकृतिक और प्राचीन है। इसमें भगवान् की दो मूर्तियाँ हैं—एक भूमि-स्पर्श मुद्रा में और दूसरी नाग के फणों के नीचे बैठी हुई ध्यान-मुद्रा में। मूर्तियाँ महायान धर्म से प्रभावित हैं।

गुफा सुंदर और विशाल है, किंतु लोगों के इस सघन वन में

सर्वदा न आने से परिशुद्ध नहीं है। गुफा के सामने दो शिला-लेख लगे हुए हैं—एक में बुद्ध-मूर्ति की स्थापना की तिथि के साथ संवत् ७३८ लिखा हुआ है, और दूसरे में संवत् ८१६। ये दोनों नेपाली संवत् हैं। इन शिला-लेखों को देखने से ज्ञात होता है कि उक्त तिथियों में गुफा का केवल प्रतिसंस्कार किया गया था, और इसमें मूर्तियाँ बैठाई गई थीं।

दो और भी छोटी-छोटी बुद्ध-मूर्तियाँ हैं, जो बहुत ही सुंदर हैं। बनैले पशुओं के वास से गुफा प्रायः विशेष गंदी रहती है। कहते हैं, नागार्जुन-पर्वत के चारों ओर ऐसी एक सौ आठ गुफाएँ हैं। प्राचीन काल में इन गुफाओं में भिक्षु लोग रहकर ध्यान-भावना करते थे, किंतु इस समय सभी सघन वनों से ढकी हुई प्रतिमा-गृह बन गई हैं।

हम लोगों ने गुफा में भगवान् की मूर्ति के पास मोमबत्ती और अगरबत्ती जलाई तथा पूजन किया एवं वहाँ से नीचे की ओर उतरना शुरू किया। अब मार्ग काफ़ी चौड़ा था। आगे चलने पर लकड़हारे भी मिलने लगे। पाँच बजते-बजते हम पर्वत से उतरकर नीचे की ओर इनमें आ गए।

मोतीलक्ष्मी इस यात्रा में सदा धर्म जानने की इच्छा से मुझसे प्रश्न करती रहती थी। यह नेपाल के एक संभ्रांत कुल की धार्मिक उपासिका है। संस्कृत, पाली और हिंदी भी भले प्रकार जानती है, नेवारी तो इसकी मातृभाषा ही है। यह एक विदुषी और नेवारी-भाषा की प्रसिद्ध लेखिका है। 'धर्मदूत' और 'धर्मोदय' में इसके लेख प्रकाशित हुआ करते हैं। यह घर में रहते हुए भी दस शीलधारी उपासिका है। मैंने नेपाल में ही क्या, लंका में भी इस प्रकार की दस शीलधारी उपासिका नहीं देखी, जो घर में रहती हो। यह अपने अंधे पिता की सेवा-टहल में लगी हुई धार्मिक जीवन व्यतीत करती है। जब तक मैं नेपाल में रहा, यह अपनी छोटी बहन

के साथ सदा आकर मेरे पास थेरी-गाथा पढ़ा करती थी। इसका विचार थेरी-गाथा को नेवारी में अनुवाद करने का था।

नीचे उतरने पर एक छोटे गाँव में पानी पिया, और बैठकर थोड़ी देर विश्राम किया। वहाँ से काली मिट्टीवाले उपजाऊ खेतों से होकर छ बजे संध्या को आनंद-कुटी पहुँच गए।

सम्यक् दान-महोत्सव

नागार्जुन-पर्वत की यात्रा से लौटकर मैंने दो घंटे विश्राम किया, और पाटन के सम्यक् (समये) दान को देखने के लिये आठ बजे रात्रि में प्रस्थान कर दिया। पाटन पहुँचने पर देखा कि प्रत्येक गली में बाजे बज रहे थे। लोग बुद्ध-भजन गा रहे थे। मार्ग में किन्हीं-किन्हीं चौराहों पर सुवर्णान्वित दीपंकर भगवान् की मूर्तियाँ रक्खी हुई थीं। भीड़ उन्हें घेरे हुई थी। मैं भदंत धम्मालोकजी के साथ पहले सीधे धर्मंगल विहार में गया। वहाँ मेरे पहुँचने की सूचना पहले ही मिल चुकी थी। चंद्रशीला अनागारिका ने निमंत्रित भी तो किया था!

विहार में पहुँचने पर धम्मालोकजी वहीं रह गए, किंतु मैं श्री-बुद्धघोषजी के साथ एक उपस्थाक को साथ लिए नागबहाल के मैदान में गया, जहाँ नगर-भर की मूर्तियाँ उत्सव के साथ एकत्र होनेवाली थीं। चंद्रशीला ने अपने यहाँ मेरे ठहरने का प्रबंध किया था, किंतु मुझे इसकी सूचना न मिली थी। उसका घर नागबहाल के मैदान की बग़ल में है। घर की ऊपरी मंज़िल में बैठकर भली भाँति उत्सव देखा जा सकता है। पिछले दिन जब हमें मालूम हुआ, तो मैं बहुत पछताया। फिर भी उत्सव देखने के लिये मेरा अच्छा प्रबंध हो गया। बुद्धघोषजी हमें लिए हुए अश्वघोष के श्वशुर के घर पहुँच गए, जो नागबहाल मैदान की दूसरी बग़ल में था। वहाँ हम लोगों के लिये ऊपरी मंज़िल में कुर्सियाँ लगा दी गईं, और हम लोग बैठे। धीरे-धीरे दर्शकों से मैदान भरने लगा, किंतु अभी एक भी जुलूस मैदान में नहीं पहुँचा था।

ल बज रहा था। लोगों ने कहा, उत्सव के जुलूस बारह बजे
ने लगेंगे। गृह-स्वामिनी की प्रार्थना थी कि मैं तब तक उन्हें कुछ
श दूँ। मैं नहीं चाहता था कि तमाशबीन बनकर आया हुआ
उपदेश करूँ, किंतु अनेक आग्रह से विवश हो जाना पड़ा, और जब तक जुलूस न आए, तब तक उपदेश करता रहा।

उपदेश देते हुए लेखक

जब बारह बजा, तब धीरे-धीरे जुलूस आने प्रारंभ हुए। लोग आगे-पीछे बाजे बजाते, भजन
हुए धीरे-धीरे आगे बढ़ रहे थे, और बीच में दीपंकर की बड़ी
ली सुवर्णान्वित मूर्ति, जिसमें एक व्यक्ति घुसा हुआ था, नाचती
आ रही थी। दीपंकर की मूर्तियाँ बड़े ही सुंदर ढंग से बनाई
थीं, उनके अंदर घुस, उठाकर लानेवाले व्यक्ति बड़े ही हाव-भाव
न्हें नचा रहे थे। स्थान-स्थान पर रोक-रोककर, वज्राचार्य लोग
माला पहनाकर अक्षत-पुष्प आदि से पूजा कर रहे थे। मैंने
समय लेखनी निकाली, और डायरी में ये पंक्तियाँ लिखीं—

"आलोकेमि नच्चन्तं दीपङ्करतथागतं;
मालागन्ध कीरीटेहि भूसितं पटिमंवरं।
सम्मासम्बुद्ध दानम्हि अहो अच्छरियं इदं;
असोकपट्टने नगरे सोगतेहि सुसज्जितं।"

जिन भगवान् बुद्ध का यह उपदेश हो—"भिक्षुओ ! आर्य-विनय में गीत रोना है, नाच पागलपन है, बड़ी देर तक दाँत दिखाकर हँसना लड़कपन है*।" उन्हीं को नचाना कितना दूषित और हास्यास्पद है, किंतु नेपालवासी दर्शकों को इसका तनिक भी ख्याल नहीं रहता। यदि वे मूर्ति को न नचाकर, अनेक हाव-भावों के साथ चलाने को छोड़कर शांत भाव से धीरे-धीरे चलाएँ, तो इस उत्सव की शोभा अपेक्षाकृत बढ़ जायगी।

दीपंकर भगवान् की मूर्तियाँ गीत-वाद्य और जुलूस के साथ ले जाकर पंक्ति में बैठाई जाती थीं। उनमें भी छोटी-बड़ी के हिसाब से क्रम था। दो बजे तक नागबहाल का सारा मैदान लोगों और मूर्तियों से भर गया। ६१ दीपंकर भगवान् की बड़ी-बड़ी मूर्तियाँ थीं। उनके साथ मीननाथ, मत्स्येंद्र-नाथ, वसुंधरा आदि की भी मूर्तियाँ सजा-कर लाई गई थीं।

दीपंकर बुद्ध की एक बड़ी प्रतिमा

* अंगुत्तर निकाय ३, १, ५

जब सब जुलूस आ गए, और मूर्तियाँ मैदान में अपने स्थान पर रख दी गईं, तब हम लोग सोने के लिये थंमंगल विहार चले गए।

दूसरे दिन प्रातराश और दोपहर के भोज के लिये अनागारिका चंद्रशीला के घर गया। कांतिपुर से अन्य भिक्षु और अनागारिकाएँ भी आई हुई थीं। चंद्रशीला ने अपने यहाँ भोजन का प्रबंध इसलिये कर रक्खा था कि हम लोग उत्सव को भोजनोपरांत भली भाँति देख सकें।

मुझे तो नींद आ रही थी, अतः प्रातराश करके अलग एक कोठरी में सो रहा। दोपहर में मुझे जगाया गया। भोजन किया, और भिक्षु तथा उपासक लोगों के साथ उत्सव देखने के लिये गया। भीड़ से सारा मैदान खचाखच भरा हुआ था, पैर रखने की भी जगह न थी। सारी नेपाल-उपत्यका से लोग आकर एकत्र हो गए थे। ऐसा जान पड़ता था, मानो नेपाल की सारी जनता यहाँ आ गई है। हिंदू, मुसलमान आदि भी आए हुए थे। मैदान के चारो ओर के घरों के ऊपरी तल्लों पर इतने लोग बैठे हुए थे कि उन घरों में भी तिल रखने को जगह न थी। हम लोगों के लिये उत्सव देखने का प्रबंध आस पास के अँगरेज़ी स्कूल के ऊपरी तल्ले में हुआ था। हम लोग वहाँ गए, और कुर्सियों पर बैठकर देखने लगे।

बालक-बालिकाएँ और स्त्री-पुरुष, सब सज-धजकर आए थे। मूर्तियाँ कई पंक्तियों में बैठा दी गई थीं। थैताजू लोग, जो इन मूर्तियों के रक्षक थे, उनकी वेष-भूषा बड़ी ही अजीब थी। वे घँघरी और कोट पहने हुए थे, कंधे पर एक चादर डाले हुए थे। सिर पर एक निराले ढंग की लामा लोगों की भाँति टोपी थी, और लोग उनके पीछे-पीछे सिर के ऊपर एक गोल, लंबे डंडेवाले छाते लगाए हुए थे। छातों में चारो ओर कुछ मंत्र लिखे हुए थे। इस उत्सव में इनकी संख्या दस थी।

थोड़ी देर बाद थैपाजू लोग नानबहाल गए, और पूजा करके लौटे। उनके लौटते ही सम्यक् दान शुरू हो गया। दस-दस, बारह-बारह हज़ार के सुवर्णाभरणों में ढकी हुई कन्याएँ तथा स्त्रियाँ बहिरा द्वारा चावल आदि लिवाकर आई हुई थीं। जब थैपाजू लोग अपने-अपने टोल की मूर्तियों के पास पहुँच गए, तब कन्याएँ और स्त्रियाँ उन्हें अपने चावल आदि में से छोटे छोटे चम्मचों या करछुलों से दान करने लगीं। दान देनेवालों और दान ग्रहण करनेवालों की

दो थैपाजू

संख्या अनगिनत थी। विशेषकर यह दान वज्राचार्य, शाक्यभिक्षु और थैपाजू लोगों को ही दिया जाता है, किंतु बहुत-से भिखमंगे भी जाकर दान की पंक्ति में बैठ जाते हैं। दायक धीरे-धीरे दान देते हुए आगे बढ़ते जाते हैं। कितने लोग पैसे भी देते हैं। कई एक समितियों (गुठी) से मालपुवे भी बाँटे जाते हैं।

मैं फ़ोटो लेना चाहता था, अतः दो-तीन उपासकों के साथ नीचे

आया, और किसी तरह लोगों को हटवाकर कुछ दीपंकर भगवान् की मूर्तियों और पेगन् लोगों का फ़ोटो लिया।

सम्यक् दान की प्रथा कब से चली, यह निश्चित रूप से नहीं बतलाया जा सकता। इसके मनाने की तैयारी एक वर्ष पूर्व से होने लगती है, और सब लोगों को निमंत्रित करके मनाया जाता है।

यह उत्सव नेपाल के प्रधान नगर कांतिपुर, पाटन और भातगाँव में विभिन्न समयों में मनाया जाता है। कांतिपुर में बारह वर्ष पर, पाटन में पाँच वर्ष पर और भातगाँव में तीन वर्ष पर मनाया जाता है।

कांतिपुर में जिस वर्ष यह उत्सव होनेवाला होता है, उससे एक वर्ष पूर्व ही, जिनके घर दीपंकर भगवान् की मूर्तियाँ होती हैं, वे स्वयंभू-चैत्य आदि से लेकर राजा तक को निमंत्रण देते हैं। वह एक प्रकार की प्रार्थना और सूचना होती है कि अगले वर्ष दान दिया जायगा। उत्सव से एक मास पूर्व एक समिति बनाई जाती है, और मुहल्ले-मुहल्ले के लोगों को काम बाँट दिया जाता है। सब लोग अपने जातीय काम को ही करते हैं। उत्सव में जो कुछ व्यय होता है, उसे सम्यक् दान करनेवाला व्यक्ति देता है। जितना भी व्यय हो, उसमें ननुनच नहीं करना होता है। उत्सव में यह भी ध्यान रक्खा जाता है कि कोई अपने जातीय कर्म का उल्लंघन न करे। यदि कहीं जातीय कर्म का उल्लंघन हुआ, तो कोई खायगा ही नहीं। सब काम बड़ी पवित्रता के साथ होते हैं।

कांतिपुर के उत्सव में कार्य का विभाजन इस प्रकार होता है—

(१) नेत के तुलाधर उपासक भोजन बनाते हैं।

(२) असन् के तुलाधर उपासक पत्तल बनाते हैं।

(३) इतिम् बहाल के शाक्य भिक्षु मूली की तरकारी बनाते हैं।

(४) जन बहाल के कंसाकर उर्द की दाल बनाते हैं।

(५) ठेमल टोल के मरीकौमी मिठाई बनाते हैं।

(६) इतिन् बहाल के बनिया लोग शक्कर का शर्बत बनाते हैं।

(७) कुम्हार लोग सामान रखने के लिये प्याले बनाते हैं।

(८) चावल आदि का प्रबंध सम्यक् दान का दाता करता है।

जब उत्सव के तेरह दिन रह जाते हैं, तब सूची को सरकारी बना दी जाती है, और चार दिन पूर्व सबका उनके कार्य के अनुसार सामान बाँट दिया जाता है। तीसरे दिन सब काम ठीक कर देना पड़ता है। संध्या को बाजे के साथ सब लोग भगवान् की मूर्तियों की अगवानी करते हैं। नमोबुद्ध, नाला, पाटन, मत्स्येंद्रनाथ, वज्र-योगिनी, खड्गयोगिनी, आर्य-अवलोकितेश्वर, स्वास्ति, सिंग, सम्यक् दान आदि की सभी मूर्तियाँ हनुमान्-ढोका के मैदान में लाई जाती और अपने निश्चित स्थान पर बैठा दी जाती हैं। यह सब काम दूसरे दिन की संध्या से लेकर रात्रि-भर होता है। उसी दिन भोजन बनानेवाले प्रातःकाल स्नान-पूजन करके, चूल्हे में आग जलाकर अपना कार्य प्रारंभ कर देते हैं। उन्हें सबका सहयोग प्राप्त रहता है। जिस समय हनुमान्-ढोका के मैदान में मूर्तियाँ आती हैं, और अपने-अपने स्थान पर एक पंक्ति में बैठा दी जाती हैं, तब सम्यक् दान-दाता उन सब मूर्तियों को प्रणाम करता है। उस रात्रि को उन्हें वहीं रखते हैं।

सम्यक् दान के दिन आठ बजे प्रातः बाजे के साथ उन्हें भूखेल के मैदान में ले जाते हैं। आज दोपहर में राजा का भी आगमन होता है। भूमि गोबर से लिपी होती है, चटाइयाँ बिछी होती हैं। राजा को उसके ऊपर खड़ा कर सम्यक् दान देनेवाले के घर की दो ज्येष्ठ स्त्रियाँ आकर उसके पैर को शीतल तथा सुवासित जल, दूध आदि से धोती हैं। नाना प्रकार के पुष्प, सिंदूर, लावा, अक्षत आदि से पूजती हैं। एक थाली में फल, चावल, लावा डालकर उसके सिर

पर तीन बार गिराती है। इसके पश्चात् उन दो स्त्रियों में जो छोटी होती है, वह चटाई से राजसिंहासन तक आगे-आगे पानी छिड़कती है, और दूसरी अपने घर की कुंजी राजा के दाहने हाथ में थँभाकर सिंहासन तक ले जाती है। जब राजा अपने सुवर्ण-सिंहासन पर बैठ जाता है, तब सम्यक् दान देनेवाले के घर के अन्य सब व्यक्ति आकर राजा के पैरों की पूजा करते हैं, अर्घ्य देते हैं। अर्घ्य के साथ अशर्फी आदि पैर पर चढ़ाते हैं; राजा भी उन्हें उस समय कुछ पारितोषिक देता है। इसके बाद राजा चला जाता है, और सम्यक् दान शुरू होता है।

पहले नेपाल में यह सम्यक् दान एक विचित्र ढंग से मनाया जाता था। जिस बौद्ध के पास बहुत धन हो जाता था, वह नेपाल-उपत्यका के सभी बौद्धों को निमंत्रित करके, सम्यक्-संबोधि की प्रार्थना करके दान देता था; वह उसे दान-पारमिता मानता था। उसमें सभी बिना किसी हिचकिचाहट के सम्मिलित होते थे, और एक साथ बैठकर भोजन करते थे।

इस समय भी उसी प्रकार से करने का प्रयत्न करते हैं, किंतु बहुत कुछ विकृत हो गया है। पाटन में मैंने देखा कि सम्यक् दान के दिन बहुतेरे बौद्ध उपासक शराब के नशे में मस्त थे। जब अनागारिका चंद्रशीला के पिता ने दोपहर में पंचशील नहीं ग्रहण किया, तभी मैंने इस बात को जान लिया था। पीछे ज्ञात हुआ कि उस दिन सब घरों में मद्य का प्रयोग होता है।

पाटन के नागबहाल के मैदान में जो-जो अपने घरों से दीपंकर भगवान् की मूर्तियों को लाए थे, उन्होंने इसी प्रकार सम्यक् दान देकर उन्हें बनवाया था। जो लोग सम्यक् दान देते हैं, वही दीपंकर भगवान् की ऐसी मूर्तियों को बनवाते हैं।

भातगाँव का सम्यक् दान-महोत्सव भी उक्त प्रकार से ही होता है,

किंतु पाटन तथा कांतिपुर के महोत्सव-जैसा विशाल और सुंदर नहीं होता।

यद्यपि मुझे सम्यक् दान की बहुत-सी बातें अच्छी नहीं लगीं, और दूसरे लोगों को भी अच्छी नहीं लगती हैं, किंतु इस उत्सव से नेपाल की बौद्ध जनता का बहुत बड़ा लाभ होता है। मैंने स्वयं अनुभव किया कि इस उत्सव के कारण नेपाल की बौद्ध जनता को निम्न-लिखित लाभ होते हैं—

(१) जाति-पाँति के रहते हुए भी छुआछूत का विनाश।

(२) परस्पर सहयोग, संगठन और मेल।

(३) दान के प्रति श्रद्धा की वृद्धि।

(४) धार्मिक भावना का प्रश्रय और प्रचार।

(५) परस्पर सम्मान।

(६) अपने अधिक धन को लोगों में बाँटकर समता प्राप्त करना।

(७) संचित पुण्य-संभार से निर्वाण की ओर अग्रसर होना।

यदि कतिपय अवांछनीय बातों को छोड़ दिया जाय, तो इससे और भी लाभ हो सकता है। मेरे देखने में निम्न-लिखित बातों को सर्वथा त्याग देना ही उचित है—

(१) शराब आदि पीना।

(२) दीपंकर भगवान् की मूर्ति को मुकुट आदि से भूषित करना।

(३) मार्ग में चलते हुए मूर्ति को नचवाना तथा अनेक प्रकार के हाव-भाव दिखलवाना।

(४) चावल, धान आदि का दान देना। केवल भोजन-दान ही पर्याप्त है।

(५) वसंत-ऋतु-संबंधी गीतों को गाना। बुद्ध-भजन-मात्र पर्याप्त है।

हम लोगों ने चार बजे तक उत्सव देखा। इस उत्सव से हमें हार्दिक प्रसन्नता हुई। मैं तो अपनी नेपाल-यात्रा की स्वयं सराहना कर रहा था कि ऐसे समय वहाँ पहुँचा कि यह उत्सव भी देख सका।

संध्या को हम लोग आनंद-कुटी लौट आए।

भातगाँव

पंद्रह मार्च को भोजनोपरांत तीन बजे भातगाँव के लिये प्रस्थान किया। कांतिपुर से भातगाँव छः मील पूरब है। आज मेरे साथ इस यात्रा में लोकरत्न उपासक, मोतीलक्ष्मी, उसकी छोटी बहन, धम्मानंदी, नागु बाज़ार का धर्मरत्न तथा श्रीधर्मरत्न 'यमि' भी थे। कांतिपुर में मोटरकार या बस का प्रबंध करने के लिये बहुत-से उपासकों ने सोचा था, क्योंकि हम लोग भातगाँव से आगे भी बढ़नेवाले थे, किंतु पेटरोल के अभाव में वैसा नहीं हो सका। मुझे उसकी आवश्यकता नहीं थी। जब मैंने जाना, तो उन्हें समझाया कि पैदल यात्रा ही लाभप्रद है, यदि हम मोटर में बैठकर दम से वहाँ पहुँच जायँगे, तो मार्ग के दृश्यों का भले प्रकार निरीक्षण न कर सकेंगे।

हमारे साथियों में से अन्य लोग धम्मालोकजी के साथ पीछे-पीछे आ रहे थे, और मैं धर्मरत्न 'यमि' के साथ आगे-आगे चल रहा था। धर्मरत्न 'यमि' कुछ लंबे क़द के हैं, शरीर भी कोई बहुत मोटा-ताज़ा नहीं है, अतः लंबे पैरवाले से पैदल चलने में कौन जीत सकता है? थोड़ी ही देर में हम लोग बहुत आगे निकल गए। धर्मरत्न 'यमि' अपनी नई रचना 'अर्हत्‌नंद' की कविताओं को सुनाते हुए चल रहे थे। उनकी कविताएँ मुझे बहुत पसंद आईं। यद्यपि मैं नेवारी-भाषा नहीं जानता था, तथापि उनके भावार्थ-कथन एवं कविता-पाठ से मुझे यह अनुभव हो रहा था कि कवि की कविताएँ उत्तम और सरस हैं।

हम दोनो बातें करते साढ़े पाँच बजे भातगाँव पहुँच गए। नगर

के बाह्य भाग में एक बहुत बड़ा प्राचीन पोखरा है, वहीं अपने साथियों की राह देखते हुए बैठे रहे। उनके आने पर शहर में गए, और एक गृहस्थ के घर रात्रि में विश्राम किया।

भातगाँव को भक्तपुर और खोप भी कहते हैं। यहाँ की जन-संख्या ९३,१७६ है। यहाँ भी नेवार-जाति के लोग ही अधिक हैं। प्राचीन समय में यह नगर नेपाल की राजधानी था। प्राचीन राजदरबार अब भी दर्शनीय है। भातगाँव के राजाओं में राजा जगज्ज्योतिर्मल्ल बहुत प्रसिद्ध हो गए हैं। वह अठारहवीं शताब्दी के मध्य भाग में वर्तमान थे। ज्योतिष-शास्त्र और संस्कृत-साहित्य के वह प्रकांड पंडित थे। उन्होंने 'नरपतिचर्या'-नामक ज्योतिष-शास्त्र की टीका लिखी थी। उन्होंने ही 'विस्केट-यात्रा' को भी प्रारंभ कराया था।

यह नगर कांतिपुर और पाटन की भाँति बहुत सुंदर नहीं है, और न यहाँ वैसी बड़ी दूकानें ही हैं। बिजली की रोशनी का प्रबंध है।

पुराने समय में यह नगर बौद्धों से भरा हुआ था। चारो ओर प्राचीन चैत्य और बहाल (विहार) दिखाई देते हैं। नगर के पश्चिमी भाग में बहुत अधिक चैत्य हैं। उनकी मरम्मत नहीं होती। सफ़ाई भी कौन करे, जब इस समय यहाँ बौद्धों की संख्या ही कम है? नगर में सब मिलाकर अठारह प्राचीन विहार हैं। हम लोगों ने लौटती बार कई एक विहारों को देखा भी था, और नगर का पर्यटन भी किया था। यहाँ के बौद्ध गृहस्थों ने अपने घरों के द्वार पर 'बुद्ध-शरण' लिख रक्खा है, जिसे देखते ही बौद्ध घरों को पहचाना जा सकता है।

नगर की गलियाँ संकीर्ण और गंदी हैं। जहाँ-तहाँ पाख़ाना और विचरते हुए सुअर देखे जाते हैं।

नगर के बीच में एक पुराना, छोटा-सा चैत्य और बहाल है।

वहाँ कोई नहीं रहता। धम्मालोकजी कह रहे थे कि इसे भातगाँव-वासी बौद्ध नवीन विहार बनाकर स्थविरवादी भिक्षु-संघ को देनेवाले हैं। यदि ऐसा हो जायगा, और कोई भिक्षु वहाँ सदा रहकर धर्मोपदेश देगा, तो संभव है, कांतिपुर और पाटन की भाँति यहाँ के बौद्धों में भी नव-जागृति की चेतना आ जायगी, एवं निकट भविष्य में ही यहाँ के बौद्ध भी अपने बिछुड़े हुए भाइयों को मिलाकर धार्मिक तथा सामाजिक सुधार करने के लिये कटिबद्ध हो जायँगे।

यहाँ दत्तात्रेय का एक प्रसिद्ध मंदिर है, जो तत्त्वपाल टोल में है। शिवरात्रि के दिनों में भारतीय साधुओं की भीड़ से इसका अहाता भरा रहता है। मंदिर सुंदर और विशाल है, जिसे जयमल्ल ने बनवाया था।

भातगाँव में तुलजादेवी का मंदिर भी बहुत प्रसिद्ध है। इसे राजा हरिहरसिंह ने चौदहवीं शताब्दी में बनवाया था। आजकल इसका नाम 'मूलचौक' है। किंवदंती है कि उस समय भोटिया लोग तुलजादेवी के माहात्म्य को सुनकर उनकी मूर्ति चुराने के लिये भातगाँव की ओर आ रहे थे, किंतु जब वे 'सम्दुस्' नदी के किनारे पहुँचे, तो देखा कि भातगाँव के चारों ओर आग जल रही है। वे देवी की अद्भुत शक्ति को देखकर वहीं से पीछे लौट गए थे।

बनेपा

सोलह मार्च को प्रातःकाल प्रातराश करके भातगाँव से बनेपा का मार्ग पकड़ा। आज ठंडी-ठंडी हवा चल रही थी। हाथ-पैर ठंडक से सिकुड़ने लगे थे। मार्ग में लहलहाते हुए खेतों को देखते पक्की सड़क से हम लोग चल रहे थे। कांतिपुर से भातगाँव होते हुए बनेपा तक यह सड़क गई है।

आज भी हम दोनों आगे-आगे थे। श्रीधर्मरत्न 'यमि' को मेरे साथ चलने से बड़ी प्रसन्नता थी, और मुझे भी विशेष आनंद था। धर्मरत्न ही तो तिब्बत में बहुत दिनों तक राहुलजी के उपस्थाक थे। वह हिंदी, उर्दू, तिब्बती, तामंग, गुरुङ्, गोरखावाली भाषाएँ भले प्रकार जानते हैं। अँगरेजी की जानकारी रखते हैं, नेवारी-भाषा के तो अच्छे कवि और लेखक हैं। इनके लेख प्रायः 'धर्मदूत' और 'धर्मोदय' में छपा करते हैं। कई एक काव्य-ग्रंथों के लेखक भी हैं।

अब हम लोग नेपाल-उपत्यका के पूर्वी भाग के 'पूर्व १ नंबर' के इलाके में चल रहे थे। बनेपा के पास पश्चिम-उत्तर एक मील पर नाला-नामक एक गाँव है, जहाँ करुणामय का प्रसिद्ध मंदिर है। धम्मालोकजी ने कहा, हम दोनों वहाँ जाकर देख आएँ, तब तक वे लोग आगे चलकर बनेपा में भोजन आदि का प्रबंध करेंगे।

चारों ओर पर्वतों के मनोमोहक दृश्य देखते हुए हम दोनों नदी के किनारे-किनारे नाला गाँव में गए। यह गाँव छोटा, किंतु सुंदर है। गाँव में चारों ओर प्राचीन काल के चैत्य तथा विहारों के ध्वंसावशेष बिखरे पड़े हैं। गाँव से उत्तर छोटी टेहरी के नीचे बहुत-

से पुराने खँडहर दिखाई पड़ते हैं। पहले यह एक प्रसिद्ध बौद्ध गाँव था, किंतु आज यहाँ दो ही चार घर बौद्धों के हैं।

गाँव के पश्चिमी भाग में वह प्रसिद्ध मंदिर है, जिसे हम लोग देखने गए थे। वहाँ जाने पर देखा कि मंदिर का फाटक बंद था, और बाहर देखा जान पड़ता था, कि कभी झाड़ू भी नहीं लगाया जाता है। मंदिर के प्रांगण में एक छोटी-सी पानी की पोखरी बनी है। किनारे मंदिर के पुजारी गुभाजू की एक छोटी दूकान है। हम लोगों ने मंदिर का फाटक खोलवाया, और करुणामय की मूर्ति को देखा। मूर्ति प्राचीन और सुंदर है।

हरएक पूर्णिमा और अमावस्या को भातगाँव, बनेपा, पाटन, कांतिपुर तक के बौद्ध इस मूर्ति की पूजा करने आते हैं।

हम लोग पुनः पीछे लौटे, और बनेपा में वहाँ गए, जहाँ बौद्ध विहार था। वहाँ हम लोगों के लिये दोपहर के भोजन का प्रबंध हो रहा था। यह विहार क़स्बे के अंदर है, और है तिमंज़िला। दूसरे तल्ले में एक नवीन बुद्ध मूर्ति भी रक्खी हुई है। दो-चार बुद्ध-चरित-संबंधी चित्र भी टँगे हुए हैं।

इस विहार में मेरे चिर-परिचित भिक्षु महापंथ रहते हैं, किंतु वह हमारे सारनाथ में रहते ही तीर्थ-यात्रा-हेतु भारत गए थे। सारनाथ में उनकी उपसंपदा हुई थी। कर्मवाचा का पाठ मैंने भी किया था। अभी तक वह लौटकर नहीं आए थे, किंतु कोई हर्ज न था। यहाँ धर्मानंदी अनागारिका का बनेपा से प्रगाढ़ संबंध है। उसके वहाँ बहुत-से परिचित और अपने लोग थे।

हमारे बनेपा में पहुँचने की ख़बर बिजली के समान सारे क़स्बे में फैल गई। कई स्कूल के अध्यापक, जिन्होंने पहले काशी में रहकर विद्याध्ययन किया था, मिलने आए, और बड़ी देर तक धार्मिक वार्तालाप होता रहा।

बनेपा कोई बड़ी बस्ती नहीं है। यहाँ की जन-संख्या लगभग आठ हज़ार ही होगी, किंतु यह इस इलाक़े का मुख्य बाज़ार है। इसे 'वणिकपुर' भी कहते हैं। चारों ओर से व्यापारी माल को लेकर यहाँ आते हैं। सड़क के दोनों ओर दूकानें हैं। ट्रक द्वारा कांतिपुर और भातगाँव से यहाँ तक सामान आया-जाया करता है।

पंद्रहवीं शताब्दी के प्रारंभ में राजा शक्तिसिंह देव ने बनेपा के पूर्ववर्ती सलाम चौक में अपनी राजधानी बनाई थी। उनसे तत्कालीन चीन के सम्राट् को घनिष्ट मित्रता थी। उसने यहाँ से चीन के सम्राट् को अनेक प्रकार की वस्तुएँ भेंट की थी। चीन के सम्राट् ने भी (संवत् ५३५ का लिखा हुआ) एक स्वीकृति-पत्र तथा राज-मुहर भेजी थी।

राजा यक्षमल्ल ने अपने राज्य को चार भागों में बाँटकर बनेपा को अपने दूसरे पुत्र रामल्ल को दे दिया था, जिसने अपनी राजधानी बनेपा में ही बनाई थी। बनेपा राज्य की सीमा पूर्व में दूधकोशी, पश्चिम में सना, उत्तर में संगा चौक और दक्षिण में मदिनामल-नामक पथरीली भूमि तक फैली हुई थी; किंतु परस्पर के विवाद से वह चिरस्थायी न होकर भातगाँव के राज्य में मिला ली गई थी।

उस समय बनेपा में बड़े संपत्तिशाली लोग रहते थे। कहते हैं, नेपाल-संवत् ६२२ (ई० सन् १५०२) में यहाँ के किसी धन-कुबेर ने पशुपतिनाथ को मूल्यवान् कवच और एकमुखी मुद्रा उपहार में दी थी। राजा को भी उसने एक शाल भेंट की थी, जो इस समय कांतिपुर के संग्रहालय में सुरक्षित है।

सन् १७६६ में राजा पृथ्वीनारायण ने कांतिपुर पर अपना अधिकार कर लिया था, और भातगाँव के पूर्व धूमखेत, चौकोट आदि में अनेक बार युद्ध करके, बनेपा प्रदेश को भी अपने हाथ में लेकर महेंद्रसिंह के परिवार के भरण-पोषण के लिये पनौती, नाला, खदपु,

संगा आदि को बनेपा के साथ दे दिया था। इस प्रकार हम देखते हैं कि बनेपा एक छोटा क़स्बा होते हुए भी बहुत दिनों तक राजनीतिक अखाड़ा बना रहा।

पुराने समय में यह पूर्णतः बौद्ध-बस्ती थी। अनेक विहार और चैत्य बने हुए थे। यहाँ के एक विहार को देखने के लिये हम लोग गए थे, जिसके बाह्य भाग के प्रांगण में एक छोटे चैत्य में भगवान् की चार बड़ी ही सुंदर मूर्तियाँ बनी थीं, किंतु कोई भी व्यक्ति उनकी मरम्मत करनेवाला न था। विहार जीर्ण हो गया था। यहाँ संप्रति बहुत-से चैत्य और विहारों के भग्नावशेष हैं। बौद्ध उपासक भी पर्याप्त संख्या में हैं। नवीन विहार के बनने के पश्चात् यहाँ के बौद्धों में नई चेतना आ गई है।

नमोबुद्ध या नमूबुरा

भोजनोपरांत हम लोगों ने बनेपा से नमोबुद्ध के लिये प्रस्थान कर दिया। यह भातगाँव से बारह मील दूर पड़ता है; मार्ग में कई छोटी-छोटी पहाड़ियों और टहरियों को लाँघकर साढ़े तीन बजे नमोबुद्ध पहुँच गए। आज इस मार्ग में जनकपुर जानेवाले साधुओं के अनेक झुंड मिले।

नमोबुद्ध का चैत्य

नमोबुद्ध को नेपालवासी नमूबुरा नाम से पुकारते हैं, नमोबुद्ध केवल ग्रंथों में लिखा मिलता है। यह लगभग सात हज़ार फ़ीट की ऊँचाई पर है। इस पर्वत का नाम 'गंध-माल' है। पर्वत की चढ़ाई बहुत कुछ सीधी है। चढ़ने में थोड़ी-थोड़ी दूर पर दम लेना पड़ता है। इधर के पर्वत वृक्ष-शून्य हैं। छोटी-छोटी वनस्पतियाँ और तृणादि ही उन पर उगते हैं। यद्यपि पर्वत की

चढ़ाई कठिन है, तथापि पर्वतीय लोग इसी मार्ग से बनेपा आदि से सामान लाने के लिये आते-जाते हैं।

गंधमाल पर्वत पर एक बहुत प्राचीन चैत्य और विहार है। चैत्य बहुत बड़ा तो नहीं, किंतु सुंदर है। इसके ऊपर सोना मढ़ा हुआ है। इसमें भगवान् की चार मूर्तियाँ हैं। इसके किनारे-किनारे और भी छोटे-छोटे अनेक चैत्य बने हुए हैं।

कहते हैं, इसी प्रदेश में बोधिसत्त्व ने एक बार अपना शरीर भूखी बाघिनी को दान कर दिया था। नेवारी-भाषा के एक प्राचीन ग्रंथ में उसकी कथा इस प्रकार वर्णित है—

"एक समय भगवान् भिक्षु-संघ के साथ चारिका करते हुए पांचाल देश में पहुँचे। वह देश बड़ा ही सुंदर और रमणीक था। भगवान् ने आयुष्मान् आनंद से कहा—'आनंद! देखो, यह देश कैसा सुंदर और रमणीय है! नाना प्रकार के पुष्पित पुष्पों और फलों के भार से अवनत शाखावाले वृक्ष दिखाई दे रहे हैं। यहाँ थोड़ा विश्राम करना चाहिए।'

"भगवान् की इस बात को सुनकर आयुष्मान् आनंद ने संघाटी चौपेतकर बिछा दी। भगवान् के बैठने पर उनके पीछे क्रमशः भिक्षु-संघ भी बैठ गया। तब भगवान् ने भिक्षुओं को संबोधित करके कहा—

"'भिक्षुओ! पूर्वकाल में बोधिसत्त्व ने इस प्रदेश में महाकठिन कार्य किया था, उसकी धातु अभी तक यहाँ वर्तमान है।'

"'कहाँ भंते! हम उसे देखना चाहते हैं।'

"भगवान् ने भिक्षुओं की जिज्ञासा जानकर दाहने हाथ से भूमि-स्पर्श किया। तत्काल भूमि से एक चैत्य प्रकट हुआ, जिसे देखकर सब आश्चर्य-चकित हो गए। भगवान् ने आनंद से कहा—'आनंद! जाओ, इस चैत्य में जो धातुएँ हैं, उन्हें ले आओ।'

"'आयुष्मान् आनंद वे धातुएँ (अस्थियाँ) ले आए। भगवान् ने कहा—'यह धातु पूर्वकाल में अपना मांस बाघिनी को दान करनेवाले महासत्त्व की है, तुम लोग इसे नमस्कार करो।'

"सबके नमस्कार कर लेने पर भगवान् ने आयुष्मान् आनंद से कहा—'आनंद! इसे ले जाकर यथास्थान रख आओ।'

"आयुष्मान् आनंद जब धातु रखकर लौटे, तो भगवान् से प्रार्थना की—'भंते! भगवान् ने महासत्त्व का नाम लिया है, हम लोग इस अतीत कथा को नहीं जानते, अनुकंपा करके हम लोगों को सुनाइए।'

"'अच्छा, आनंद! यदि सुनना चाहते हो, तो सुनो; मैं कहता हूँ।'

"'पूर्वकाल में आनंद! मैं ही महासत्त्व था। आनंद! मैंने अनुत्तर ज्ञान-प्राप्ति के लिये अपने रक्त-मांस का दान किया था, उसी समय की यह धातु है।'"

प्राचीन समय में इस देश में महारथ-नामक राजा था। वह धार्मिक, सकल शास्त्र-पारंगत और धन-धान्य-संपन्न तथा प्रजापालक था। उसके तीन पुत्र थे—महाप्रसाद, महादेव और महासत्त्व। एक दिन महारथ अपने पुत्रों और अमात्यों के साथ इसी प्रदेश में क्रीड़ा करने आया। राजकुमारों ने अनेक प्रकार के फल-फूल देखकर उन्हें लेने के लिये वन में प्रवेश किया। मंत्री आदि अमात्य राजा के पास रह गए।

थोड़ी देर बाद राजा को अपने पुत्रों का ध्यान आया। उसने अमात्यों से पूछा। जब वे भी ठीक न बता सके, तब उनसे यह कहकर वह राजधानी लौट गया—"राजकुमारों को खोजकर, साथ लेकर आना।" अमात्य आदि राजकुमारों की खोज करने लगे।

इधर राजकुमार नए पुष्पों तथा वन और पर्वतीय दृश्यों का

अवलोकन करते हुए वन के मध्य भाग में पहुँच गए। वहाँ उन्होंने रसीले, स्वाद-पूर्ण नाना प्रकार के फलों को खाकर क्रीड़ा करना प्रारंभ किया। वन में नाना प्रकार के पक्षी थे, जिनके मधुर स्वर उनका चित्त आकर्षित कर रहे थे। सरोवर और पुष्करिणियाँ पद्म-पुष्पों से आच्छादित थीं, पुष्प-निकुंज मंद-मंद, शीतल वायु के संचार को सुरभित कर रहे थे, पशु-वृंद जहाँ-तहाँ विचरण कर रहा था, यह सब देख-देखकर राजकुमार आनंद के गीत गा रहे थे।

वे और भी आगे बढ़े। चलते हुए सघन वन में जा पहुँचे। वहाँ उन्हें भय लगने लगा। उससे आगे जाने का साहस न हुआ। महादेव ने कहा—"चलें सब लौट चलें." किंतु महाप्रसाद निर्भीक था, उसने पीछे लौटना नहीं चाहा। महासत्त्व ने भी महाप्रसाद की ही बात मानी, और कहा—"मुझे भय तो बिलकुल नहीं है, केवल चिंता है—पिता के वियोग की।"

वे कुछ और आगे गए। वहाँ एक पर्वत के नीचे उन्होंने एक ऐसी बाघिनी को देखा, जो सात दिन पूर्व पाँच बच्चों का प्रसव कर चुकी थी, और बहुत निर्बल हो जाने के कारण अपना आहार नहीं खोज सकती थी। वह बहुत ही भूखी-प्यासी थी। उसे देखकर राज-कुमारों में परस्पर बातें चल पड़ीं—"अहो, कितना कष्ट हो रहा है! वह बच्चों को दूध भी नहीं पिला सकती। उसे उठना भी दुष्कर है। बार-बार कराहती और उच्छ्वास छोड़ती है। कभी बच्चों को देखती और कभी मुँह फैलाकर उन्हें खाना चाहती है। उसकी आँखों से कभी-कभी आँसू की दो-चार बूँदें भी टपक पड़ती हैं। बच्चे दूध पीना चाहते हैं, किंतु उन्हें दूध नहीं मिलता।" महादेव ने कहा।

"भाइयो! देखो, पर्वत के नीचे बाघिनी को कितना दुःख हो रहा है! अब उसका प्राण छूटना ही चाहता है।" महाप्रसाद ने कहा।

महासत्त्व ने पूछा—"भाई ! बाघिनी का आहार क्या है ?"

"सिंह, शार्दूल, व्याघ्र, रीछ आदि का ताज़ा मांस और ताज़ा लोहू ।" महाप्रसाद ने उत्तर दिया ।

"ऐसी भूखी बाघिनी को कौन अपना प्राण त्यागकर मांस-लोहू देगा कि यह जी सकेगी ? अब तो इनका मरना निश्चित है ।" महादेव ने कहा ।

महाप्रसाद ने कहा—"आत्मत्याग बड़ा कठिन है । कोई भी इसे नहीं कर सकता ।"

इसे सुनकर महासत्त्व से नहीं रहा गया, उसने कहा—"भाइयो ! हम-जैसे निर्बुद्धि के लिये आत्मत्याग करके दूसरों की रक्षा करना कठिन है ।"

परस्पर इस प्रकार बातें कर तीनों राजकुमार वहाँ से लौट पड़े । लौटते समय महासत्त्व ने मन में विचारा—क्यों न मैं इस बाघिनी को बच्चों के साथ बचाने के लिये आत्मत्याग करूँ ? यह शरीर अनित्य है, जो कुछ भी किया जाय, एक दिन मरना अवश्यंभावी है, जन्म लेना, मरना लगा ही है ; इसलिये इन दुःखों से छुटकारा पाने के लिये पुण्य कर्म करना उचित है ।

वह ऐसा सोचकर शौच होने के बहाने उसी ओर लौट पड़ा । उसने बाघिनी के पास पहुँचकर, अपनी राजसी वेष-भूषा उतारकर वृक्ष पर लटका दी, और परम संबोधि पाने की प्रतिज्ञा कर, ऊपर पर्वत पर चढ़, जहाँ बाघिनी थी, वहाँ गिरते हुए आया । बाघिनी अपने पास आए हुए महासत्त्व को खाना चाहती हुई भी न खा सकती थी । तब महासत्त्व ने उसे दुर्बल जानकर एक बाँस का खपाचा ला उससे अपने मांस के लोथड़ों को काट-काटकर उसे दिया । पीछे वह महासत्त्व के अस्थिपंजर-मात्र को छोड़कर सब खा गई । उस समय महाभूकंप हुआ । देव-दुंदुभी बज उठी । स्वर्ग से

पुष्प-वृष्टि हुई। इंद्र आदि देवता महासत्त्व को हाथ जोड़ रहे थे।

इधर महादेव और महाप्रसाद ने बड़ी देर तक महासत्त्व की राह देखी, जब वह नहीं आया, तब वे भी उसी मार्ग से पुनः उसे खोजते हुए चले। उन्होंने पूर्व स्थान पर पहुँचकर देखा कि महासत्त्व के वस्त्राभूषण वृक्ष पर लटक रहे हैं, और भूमि पर इधर-उधर हड्डियाँ बिखरी हुई हैं। हड्डियाँ ताज़ी और लोहू से सनी हुई थीं। ये दोनो अपने भाई को मरा जानकर, मूर्च्छित हो भूमि पर गिर पड़े।

उधर अमात्य आदि ने बहुत खोजकर भी जब राजकुमारों को नहीं पाया, तब वे राजधानी लौट गए। राजा को पुत्रों के न मिलने से महान् दुःख हुआ। रानी छाती पीटकर रोती हुई मूर्च्छित हो गई। राजा ने फिर अमात्यों को भेजा, और स्वयं भी निकल पड़ा। इस बार राजकुमारों से भेंट हुई। राजकुमारों ने रोते-रोते सब समाचार सुना दिया। तत्पश्चात् रानी भी आई, और सब उस स्थान पर गए, जहाँ महासत्त्व ने आत्मत्याग किया था। वे महासत्त्व के वस्त्राभूषणों और हड्डियों को देख-देखकर बहुत रोए, और उन्हें लेकर एक स्थान पर रक्खा। सबने उनकी पूजा की। वहाँ उनके ऊपर चैत्य बनवाए। राजा ने चैत्य को सोने से मढ़वा दिया। ध्वजा, पताका आदि लगवाकर चैत्य को सब प्रकार से अलंकृत करवा दिया।

तत्पश्चात् महोत्सव करके राजा ने उस स्थान का नाम 'नमोबुद्ध' रक्खा।

नेपाल देशवासी नम्बुरा को ही नमोबुद्ध मानते हैं। ग्रंथ के अंत में भी लिखा है—"वह स्थान आज भी नमोबुद्ध के नाम से ही प्रसिद्ध है।" पाश्चात्य देश पनौती को बतलाते हैं। जो भी हो, 'नमोबुद्ध' प्राचीन और ऐतिहासिक स्थान है।

मुझे बहुत-से लोगों ने बतलाया कि महासत्त्व की कथा आर्यशूर-

महासत्त्व ने पूछा—"भाई ! बाघिनी का आहार क्या है ?"

"सिंह, शार्दूल, व्याघ्र, रीछ आदि का ताज़ा मांस और ताज़ा लोहू !" महाप्रसाद ने उत्तर दिया।

"ऐसी भूखी बाघिनी को कौन अपना प्राण त्यागकर मांस-लोहू देगा कि वह जी सकेगी ? अब तो इसका मरना निश्चित है।" महादेव ने कहा।

महाप्रसाद ने कहा—"आत्मत्याग बड़ा कठिन है। कोई भी इसे नहीं कर सकता।"

इसे सुनकर महासत्त्व से नहीं रहा गया, उसने कहा—"भाइयो ! हम-जैसे निर्बुद्धि के लिये आत्मत्याग करके दूसरों की रक्षा करना कठिन है।"

परस्पर इस प्रकार बातें कर तीनों राजकुमार वहाँ से लौट पड़े। लौटते समय महासत्त्व ने मन में विचारा—क्यों न मैं इस बाघिनी को बच्चों के साथ बचाने के लिये आत्मत्याग करूँ ? यह शरीर अनित्य है, जो कुछ भी किया जाय, एक दिन मरना अवश्यंभावी है, जन्म लेना, मरना लगा ही है ; इसलिये इन दुःखों से छुटकारा पाने के लिये पुरुष कर्म करना उचित है।

वह ऐसा सोचकर शौच होने के बहाने उसी ओर लौट पड़ा। उसने बाघिनी के पास पहुँचकर, अपनी राजसी वेष-भूषा उतारकर वृक्ष पर लटका दी, और परम संबोधि पाने की प्रतिज्ञा कर, ऊपर पर्वत पर चढ़, जहाँ बाघिनी थी, वहाँ गिरते हुए आया। बाघिनी अपने पास आए हुए महासत्त्व को खाना चाहती हुई भी न खा सकती थी। तब महासत्त्व ने उसे दुर्बल जानकर एक बाँस का खपाचा ला उससे अपने मांस के लोथड़ों को काट-काटकर उसे दिया। पीछे वह महासत्त्व के अस्थिपंजर-मात्र को छोड़कर सब खा गई। उस समय महाभूकंप हुआ। देव-दुंदुभी बज उठी। स्वर्ग से

पुष्प-वृष्टि हुई । इंद्र आदि देवता महासत्त्व को हाथ जोड़ रहे थे ।

इधर महादेव और महाप्रसाद ने बड़ी देर तक महासत्त्व की राह देखी, जब वह नहीं आया, तब वे भी उसी मार्ग से पुनः उसे खोजते हुए चले । उन्होंने पूर्व स्थान पर पहुँचकर देखा कि महासत्त्व के वस्त्राभूषण वृक्ष पर लटक रहे हैं, और भूमि पर इधर-उधर हड्डियाँ बिखरी हुई हैं । हड्डियाँ ताज़ा और लोहू से सनी हुई थीं । ये दोनो अपने भाई को मरा जानकर, मूर्छित हो भूमि पर गिर पड़े ।

उधर अमात्य आदि ने बहुत खोजकर भी जब राजकुमारों को नहीं पाया, तब वे राजधानी लौट गए । राजा को पुत्रों के न मिलने से महान् दुःख हुआ । रानी छाती पीटकर रोती हुई मूर्छित हो गई । राजा ने फिर अमात्यों को भेजा, और स्वयं भी निकल पड़ा । इस बार राजकुमारों से भेंट हुई । राजकुमारों ने रोते-रोते सब समाचार सुना दिया । तत्पश्चात् रानी भी आई, और सब उस स्थान पर गए, जहाँ महासत्त्व ने आत्मत्याग किया था । वे महासत्त्व के वस्त्राभूषणों और हड्डियों को देख-देखकर बहुत रोए, और उन्हें लेकर एक स्थान पर रक्खा । सबने उनकी पूजा की । वहाँ उनके ऊपर चैत्य बनवाए । राजा ने चैत्य को सोने से मढ़वा दिया । ध्वजा, पताका आदि लगवाकर चैत्य को सब प्रकार से अलंकृत करवा दिया ।

तत्पश्चात् महोत्सव करके राजा ने उस स्थान का नाम 'नमोबुद्ध' रक्खा ।

नेपाल देशवासी नमूड्डा को ही नमोबुद्ध मानते हैं । ग्रंथ के अंत में भी लिखा है—"वह स्थान आज भी नमोबुद्ध के नाम से ही प्रसिद्ध है ।" पाश्चात्य देश पनौवटी को बतलाते हैं । जो भी हो, 'नमोबुद्ध' प्राचीन और ऐतिहासिक स्थान है ।

मुझे बहुत-से लोगों ने बतलाया कि महासत्त्व की कथा आर्यशूर-

कुछ जातकमाला के व्याघ्रीजातक का ही रूपांतर है, किंतु जब मैंने श्रीसूर्यनारायण चौधरी से व्याघ्रीजातक को लिखाकर मँगाया, तो बहुत विभिन्नता दिखाई दी। जातकमाला का व्याघ्रीजातक इस प्रकार है—

"एक बार बोधिसत्त्व ने किसी ब्राह्मण-कुल में जन्म लिया। उनके जातकर्म आदि संस्कार क्रम से विधि-पूर्वक संपन्न हुए। वह बड़े मेधावी एवं ज्ञान-पिपासु थे। विद्याध्ययन की सभी सुविधाएँ प्राप्त होने के कारण उन्होंने अल्पकाल में ही अठारहों विद्याओं और अनेक कलाओं में प्रवीणता प्राप्त कर ली।

"वह राजाओं के लिये राजाधिराज के समान, प्रजाओं के लिये इंद्र के समान, धर्मवेत्ताओं के लिये ब्रह्म के समान तथा विद्यार्थियों के लिये अनुकूल एवं उपकारी पिता के समान थे। उन्हें महान् संपत्ति, सत्कार और कीर्ति प्राप्त हुई, किंतु इस ऐहिक लाभ से उन्हें आनंद नहीं हुआ।

"उन्होंने भोगों में अनेक दोष देखे, अतः गृहस्थी को रोग के समान छोड़कर वह प्रव्रजित हो गए, और किसी वनस्थली में चले गए। वहाँ उन्होंने मैत्री और शांति-रस की धारा बहाई, जिससे जंगल के हिंसक पशु भी अहिंसक हो गए। अपने सदाचरण, इंद्रिय-संयम, दयालुता और अल्पेच्छता के कारण बोधिसत्त्व समस्त जीव-लोक के लिये आनंदप्रद हो गए। देवताओं के भी मन श्रद्धा और भक्ति से उनकी ओर झुक गए।

"उनकी प्रव्रज्या का समाचार सुनकर बहुत-से लोग स्वजन, परिवार और संपत्ति को छोड़कर उनके शिष्य हो गए। उन्होंने शील, संयम, स्मृतिसंवर, मैत्री-भावना एवं मानसिक समाधि के विषय में अपने शिष्यों को उपदेश दिया। जब उनकी शिष्य-मंडली बहुत बढ़ गई, और उनमें से अनेक ने सिद्धि प्राप्त कर ली, जब दुर्गति के द्वार बंद

हो गए, और सुगति के द्वार खुल गए, तब एक बार वह महात्मा इसी जन्म में सुख-पूर्वक विहार करने के लिये योग के अनुकूल पर्वत-कंदराओं और निकुंजों में घूमने लगे।

"वहाँ उन्होंने पर्वत की कंदरा में एक युवती बाघिनी को देखा, जो प्रसव की पीड़ा से सुस्त हो गई थी, चल-फिर नहीं सकती थी। भूख से उसकी आँखें धँस गई थीं, और पेट पीठ से सट गया था। दूध की प्यास से उसके नन्हे बच्चे उसके समीप आ गए थे। वे मातृविश्वास के कारण निर्भय थे, किंतु वह क्रूर बाघिनी उन बच्चों पर भी गुर्राती हुई उन्हें अपना आहार बनाना चाहती थी।

"इस दृश्य को देखकर बोधिसत्त्व विचलित हो गए, और उन्होंने अपने शिष्य अजीत से कहा—'वत्स ! वत्स !! संसार की निर्गुणता को देखो ; भूख से व्याकुल यह बाघिनी संतति-स्नेह के नियम को तोड़कर अपने बच्चों को ही खाना चाहती है। अहो ! धिक्कार है आत्मस्नेह की इस क्रूरता को, जिससे माता भी अपने पुत्रों को ही अपना आहार बनाना चाहती है। जब तक यह अपने बच्चों की और अपनी भी हत्या नहीं कर लेती, तब तक शीघ्र ही इसकी भूख की ज्वाला शांत करने के लिये कहीं से कुछ खोज लाओ। मैं भी बाघिनी को इस दुष्कर्म से रोकने की चेष्टा करूँगा। इस संपूर्ण शरीर के रहते मैं किस दूसरे प्राणी से मांस की याचना करूँ ? उसका मिलना भी निश्चित नहीं ; अनात्म, असार, विनाशवान्, दुःखमय, कृतघ्न और सदा अपवित्र रहनेवाले इस शरीर के दूसरे के उपयोग में आने पर जो मनुष्य प्रसन्न नहीं होता, वह बुद्धिमान् नहीं है। अतः प्रपात से गिरकर प्राण छोड़ूँगा, और तब इस क्षुद्र शरीर के द्वारा पुत्र-वध के पाप से बाघिनी और बाघिनी से उसके बच्चों को बचाऊँगा।'"

"करुणा के वशीभूत होकर एकमात्र शुद्ध परोपकार-भाव से ऐसा निश्चय कर देवताओं को भी आश्चर्य-चकित करते हुए उन्होंने

अपना शरीर छोड़ दिया, और अपने शरीर के उपहार से उस क्षुधार्त बाघिनी को तृप्त करते हुए उसे घोर दुष्कर्म से बचाया।"

इन दोनों कथाओं को पढ़कर यह अनुमान किया जा सकता है कि व्याघ्रीजातक के आधार पर महासत्त्व की कथा लिखी गई है। मैंने नेवारी-भाषा के जिस ग्रंथ से उपासक श्रीलोकरत्न द्वारा महासत्त्व की कथा का हिंदी में अनुवाद कराया, वह नेपाली संवत् ९५१ (ई० सन् १८२३) पौष सुदी १० का लिखा हुआ था।

मैंने चैत्य का फ़ोटो लिया, और पर्वत के ऊपरी भाग में उस स्थान को देखने गया, जहाँ महासत्त्व ने अपना मांस काट-काटकर बाघिनी को खिलाया था। वहाँ तामंग लोग दो-चार पत्थर खड़े करके सदा बलि चढ़ाते हैं। ख़ून से रँगे हुए पत्थरों को देखकर मेरा कलेजा काँप गया। उसके पास ही थोड़ी दूर पर एक पेड़ है। चूड़ाकर्म करने के पश्चात् तामंग लोग बच्चों के केश वहाँ ले जाकर उस वृक्ष में बाँध देते हैं।

नमोबुद्ध के विहार का पुजारी एक गुभाजू (वज्राचार्य) है। यहाँ तिब्बती लामा लोग भी रहा करते हैं। इस समय यहाँ एक मंगोलिया देशवासी लामा भी रहते थे। कहते हैं, भोटिया लोग इस स्थान को बहुत पवित्र मानते हैं। चैत्य में एक स्थान पर छेद है। लोगों का विश्वास है कि जिस मरे हुए व्यक्ति की अस्थि इसमें लाकर डाल दी जाती है, उसकी मुक्ति हो जाती है, अतः सदा लोग मृत व्यक्तियों की अस्थियों को लाकर उसमें छोड़ा करते हैं।

हम लोग बहुत थके हुए थे। संध्या भी हो चली थी, अतः आज की रात नमो बुद्ध के विहार में ही रहे।

पनौती या उत्तर-पांचाल

सत्रह मार्च को प्रातःकाल उठे। चूरा खाया, चाय पी और नमोबुद्ध से लौट पड़े। आए हुए मार्ग से लौटने में आनंद नहीं रहता, अतः हम लोगों ने गंधमाल पर्वत से उतरकर पनौती की राह पकड़ी। ऐतिहासिक नगर पनौती को देखने की प्रबल इच्छा भी थी।

मार्ग में गेहूँ और जौ के खेतों से होते हुए, चारों ओर छोटे-छोटे वृक्ष-शून्य पर्वतों के दृश्य देखते हुए नौ बजे पनौती पहुँच गए। कहते हैं, पूर्व काल में उत्तर-पांचाल इस देश की राजधानी थी। पूर्वोक्त महासत्त्व के पिता महारथ इसी राज्य के राजा थे।

पनौती एक बड़ा गाँव है। इसकी जन-संख्या लगभग पाँच हज़ार होगी। यह पहले एक प्रसिद्ध बौद्ध-गाँव था, किंतु इस समय भवानी आदि के मंदिरों की ही प्रधानता है। विहार केवल एक ही है, जिसका नाम 'न्हुबहाल' है। इसी विहार में भदंत श्रीकर्मशीलजी से भेंट हुई। कुछ ही दिन पूर्व आप ललितपुर से यहाँ आए थे। आप रातों-दिन बौद्ध गृहस्थों को उपदेश देकर सुधार करने में संलग्न हैं। आपसे मिलकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। आप नेपाल के एक प्रसिद्ध स्थविर हैं। आपके लिखे हुए अनेक ग्रंथ भी प्रकाशित हो चुके हैं। अभी कुछ ही दिन पूर्व आपने 'महामंगल-पाठ' नाम से एक परित्र-पाठ के ग्रंथ का संपादन करके प्रकाशित किया था।

न्हुबहाल बहुत प्राचीन है। अब इसका जीर्णोद्धार भी हो रहा है। इसके ऊपरी तल्ले में नवीन बुद्ध-मूर्ति की भी स्थापना हुई है।

पनौती गाँव चारों ओर से नदियों से घिरा हुआ है। उत्तर से

नीलावती-नदी बहती है, जिसके ऊपर तार और काष्ठ से बना हुआ एक सुंदर लचकदार पुल है। दक्षिण में पद्मावती-नदी है। नदियों से घिरे होने के कारण इसकी प्राकृतिक सुंदरता बढ़ गई है, किंतु गाँव गंदगियों से भरा हुआ है। सफ़ाई का कोई भी प्रबंध नहीं। लोग अपने घरों के पास ही गड्ढे खोदकर कूड़ा-करकट रखते हैं। जहाँ-तहाँ पाखाना और नाना प्रकार की सड़ी-गली चीज़ें पड़ी रहती हैं। गाँव से होकर जाते समय नाक पर बिना रूमाल लगाए चलना कठिन होता है, दुर्गन्ध से रहा नहीं जाता। यद्यपि गाँव बहुत गंदा है, तथापि यह जानकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ कि शीतलता के कारण यहाँ मलेरिया कभी नहीं होता।

हम लोगों ने एक श्रद्धालु बौद्ध उपासक के घर भोजन किया, और वहाँ से विदा हुए। गाँव-भर की उपासक-उपासिकाएँ हम लोगों के पीछे-पीछे एक मील तक पहुँचाने आईं। हम लोगों के उसी दिन वहाँ से चले जाने से उन्हें दुःख भी हुआ।

अनेक मनोहर दर्शनीय दृश्यों को देखते हुए हम लोग वहाँ से चलकर भातगाँव आए; भातगाँव का परिभ्रमण किया। आज हम सब बहुत थके हुए थे। थकावट के कारण धर्मरत्न 'यमि' भातगाँव ही में रह गए, उन्हें चलाना कठिन हो गया था। भातगाँव से चलकर अनेक स्थानों पर बैठते हुए आठ बजे रात्रि में हम लोग आनंद-कुटी पहुँच गए।

नेपाल-राज्य

नेपाल-राज्य पूर्व-पश्चिम फैला हुआ है। इसकी लंबाई ५३० मील और चौड़ाई १५६ मील है। इसका क्षेत्रफल ५४,००० वर्ग मील है। जन-संख्या एक करोड़ है। भौगोलिक बंधनों से बँधा हुआ, हिमालय के अंचल में सिमटा नेपाल अपनी स्वाधीनता पर गर्व करता है। प्राकृतिक बंधन के ही कारण इसे अपनी प्राचीन संस्कृति को अक्षुण्ण बनाए रहने का सौभाग्य प्राप्त है।

प्राकृतिक विभाजन के अनुसार हम इसे तीन भागों में बाँट सकते हैं—(१) हिमालय की पर्वत-शृंखला का भाग, (२) तराई के जंगल और (३) उपजाऊ मैदान। उत्तर में हिमालय की हिमाच्छादित धवल शिखरोंवाली पर्वत-शृंखला पश्चिम से पूर्व की ओर कुछ दक्षिण हटती हुई लंबाई में एक सिरे से दूसरे सिरे तक फैली हुई है, जो कश्मीर से लेकर आसाम तक चली गई है। इसमें संसार के सर्वोच्च शिखर 'एवरेस्ट' २९,००२ फ़ीट, मकालु २७,७९० फ़ीट, गौरीशंकर २३,४५७ फ़ीट, नामचाङ २३,७३१ फ़ीट, धौलागिरि २६,८१० फ़ीट, गोसाँईथान २६,२९१ फ़ीट और काञ्चनजंघा २८,१४६ फ़ीट गर्व से आकाश को चुनौती देते हुए नेपाल में खड़े हैं। इनसे निकली हुई नदियाँ पर्वतीय प्रदेशों में इठलाती, उछलती, उमड़ती हुई नीचे उतरकर भारत को सींचती हैं।

नेपाल-राज्य के पश्चिमी भाग के चौथाई अंश में—जिसे बाईसी कहते हैं—घाघरा की मुख्य धाराएँ काली गंडक, श्वेत गंडक आदि धौलागिरि का स्पर्श करती हुई बहती हैं। धौलागिरि से

गोसाईंथान तक त्रिशूली आदि बड़ी गंडक की प्रमुख धाराएँ फैली हुई हैं, जो तब त्रिवेणी घाट पर मिल जाती हैं। सप्त गंडक के पूरब २६ मील लंबी और १६ मील चौड़ी नेपाल-उपत्यका है, जिसे 'ख़ास नेपाल' कहते हैं, जिसमें विष्णुमती, वाग्मती आदि नदियाँ बहती हैं। नेपाल-उपत्यका के पूरब कांचनजंघा तक नेपाल-राज्य का सप्त-कौशिकी प्रदेश है, जिसमें कोसी की अनेक धाराएँ फैली हुई हैं, जिनमें से सुनकोसी, दूधकोसी और अरुण प्रधान हैं।

निचले भागों में ८१० मील चौड़ा तराई के जंगलों का भाग है, जो नेपाल-राज्य के समानांतर लंबाई में पूरब-पश्चिम फैला हुआ है। उसके दक्षिण में २० मील चौड़ी उपजाऊ मैदान की पट्टी चली गई है, जहाँ धान की बड़ी अच्छी फ़सल होती है।

सन् १८१५ ई० के पूर्व नेपाल-राज्य की सीमा कुमायूँ और उसके पश्चिम शतद्रु-नदी के किनारे तक थी, किंतु सन् १८१६ ई० की संधि से वे सब स्थान अँगरेज़ों के अधिकार में आ गए थे, जो अब स्वतंत्र भारत में सम्मिलित हैं। नेपाल-राज्य की वर्तमान सीमा तक क्षेत्रफल के अनुसार उत्तरी अक्षांश २६°२४′ से ३०°१७′ और पूर्वी देशांतर ८०°६′ से ८८°१४′ के बीच है।

शासन-प्रबंध के अनुसार नेपाल-राज्य ६ बड़े प्रदेशों और ६६ ज़िलों में बँटा हुआ है। पहला प्रदेश ख़ास नेपाल है, जिसके तीन ज़िले काठमांडू, पाटन और भातगाँव हैं।

दूसरा कोसी प्रदेश है, जिसमें काभ्रेपलाञ्चोक, सिंधु पाल्चोक, दोलखा, चिसंखु, माझकिरात, पल्लोकिरात और दूलाम के सात ज़िले हैं। यह प्रदेश ख़ास नेपाल के पूर्व है।

तीसरा गंडकी प्रदेश है। यह ख़ास नेपाल के पश्चिममें है। इसमें नुवाकोट, लामीडाँडा, सल्यान, धादिङ, गोरखा, लमजुङ, तहूँ कास्की, रिसिङ, घिरिङ, ढोर, नुवाकोट (पल्लो) , भिर्कोट, सतौं,

गहाँ, पव्युँ, पर्वत, पाल्पा, गुल्मी, गल्कोट, धुरकोट, मुसीकोट, इस्मा, अर्घा, खाँची, प्यूठाना—कुल २६ ज़िले हैं ।

चौथा कनाली प्रदेश है, जिसमें सल्याना, दैलेख, दुल्लु, जुमूला, अछाम, और डोटी—ये छ ज़िले हैं । यह गंडकी प्रदेश के पश्चिम में है ।

पाँचवाँ भीतरी (भित्री) मधेश है, जो तीन भागों में बँटा हुआ है । पूर्वी भाग में मकवानपुर, सिंधुली और उदयपुर के ज़िले हैं । मध्य भाग में चितौन और नवलपुर के ज़िले हैं तथा पश्चिमी भाग में दाङ, देउखुरी, सुनार और सुर्खेत के ज़िले ।

छठा मधेश या तराई है । यह भी तीन भागों में बँटा हुआ है । पहला भाग पूर्व का है, इसमें पर्सा, बारा, रौतहट, सर्लाही, महोत्तरी, सप्तरी और मोरंग के ज़िले हैं । दूसरा भाग बुटौल है, इसमें पाल्हीं, माझखंड, खजहनी और स्यूराज के ज़िले हैं । तीसरा भाग नया मुलुक है, इसमें बाँके, बर्दिया, कैलाली और कंचनपुर के ज़िले हैं ।

उक्त विभाग के साथ पूर्वी और पश्चिमी पर्वतीय ज़िले चार-चार इलाक़ों में बँटे हुए हैं । इनका व्यवहार करते समय "पश्चिम······ नंबर इलाक़ा" या "पूर्व······नंबर इलाक़ा" लिखते हैं ।

यह भी जानना चाहिए कि 'नेपाल' शब्द केवल नेपाल-उपत्यका के लिये ही प्रयुक्त होता है । जब कोई कहता है कि वह नेपाल से आ रहा है, या नेपाल का रहनेवाला है, तो नेपाल-राज्य-निवासी समझते हैं कि वह काठमांडू, पाटन या भातगाँव से आ रहा है, या उन नगरों का रहनेवाला है ।

प्राचीन काल में नेपाल इतना विशाल राज्य नहीं था, क्योंकि उत्तर में चीन और तिब्बत के शक्तिशाली राष्ट्र थे, पश्चिम में पर्वत-शृंखलाएँ थीं, तथा दक्षिण में लिच्छवी, मल्ल, कोलिय, शाक्य तथा कोसल-नरेश प्रसेनजित का राज्य था । ऊसीरध्वज पर्वत तक मध्य देश

की सीमा जाती थी ; सारा मधेश मध्य-देश में सम्मिलित था। मधेश शब्द मध्य-देश का ही अपभ्रंश है। वर्तमान नेपाल-राज्य के अंतर्गत स्थित लुंबिनी, कपिलवस्तु, बुटौल, वीरगंज आदि स्थान भारत के जनपदों में थे। कोसल-नरेश प्रसेनजित का राज्य पर्वतीय प्रदेशों तक फैला हुआ था, जहाँ भगवान् भिक्षु-संघ के साथ विचरण करते थे। संयुत्त निकाय में आया है कि एक बार भगवान् ने बहुत बड़े भिक्षु-संघ के साथ हिमालय की तराई (हिमवंत पस्से) की आरण्य-कुटी में विहार किया था *।

बुद्ध-काल में नेपाल-राज्य की क्या अवस्था थी, इसे निश्चित रूप से नहीं बताया जा सकता ; स्वयंभू पुराण के अनुसार भगवान् नेपाल गए थे, और उपदेश दिया था।

अशोक-काल में, ईसा से तीन सौ वर्ष पूर्व, सारा नेपाल भारत-सम्राट् अशोक के अधीन था। जैसा पहले मैंने बताया है, अशोक अपनी पुत्री चारुमती और अपने दामाद देवपाल के साथ नेपाल गया था। चारुमती भिक्षुणी हो नेपाल में ही रह गई थी, और देवपाल ने भी वहीं वास किया था।

प्रथम शताब्दी ईस्वी में नेपाल पर लिच्छवि-वंश का राज्य स्थापित हो गया था। इसने नवीं शताब्दी तक नेपाल पर शासन किया था। गुप्त-काल में भारत के राजाओं का नेपाली शासकों पर पूरा प्रभाव था। सम्राट् स्कंदगुप्त की प्रयाग की प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि उसने प्रत्यंत नेपाल के राजा को भी कर देने तथा आज्ञा मानने के लिये बाध्य किया था। यही कारण है कि नेपाल के लेखों में गुप्त-संवत् का प्रयोग पाया जाता है।

हर्ष-काल में नेपाल का शासक अंशुवर्मन् था, जिसने तिब्बत के

---

* संयुत्त नि० १,२,३,५।

शासक स्रोङ्-चन-गेंबो को अपनी पुत्री भृकुटी को दिया था, और उसे अपना सम्राट् मानता था। हर्ष की मृत्यु के बाद जब चीनी सम्राट् ने अपने उच्चाधिकारी वाग-हुयेन-त्से के साथ एक सद्भावना-मंडल कान्यकुब्ज भेजा था, और भारत के तत्कालीन नरेश अर्जुन ने उनका विरोध करके बहुत-से लोगों को मार डाला था, तब नेपाल, तिब्बत और चीन की सेनाएँ एक साथ भारत में युद्ध-हेतु आई थीं, जिन्होंने अर्जुन को युद्ध-बंदी बनाया, बहुत-से लोगों को मारा, बारह हजार स्त्री-पुरुषों को क़ैद किया, बीस हज़ार पशु पकड़े, और पाँच सौ अस्सी नगरों पर अधिकार किया। हम देखते हैं, उस समय तिब्बत, नेपाल और चीन के शासकों में परस्पर घनिष्ठ संबंध था। तिब्बत का शासक प्रधान था, उसे चीन और नेपाल के शासकों ने अपनी-अपनी पुत्री दी थी। उसी समय चीनी भिक्षु य्यूआन-चुआङ् ने नेपाल की यात्रा की थी। उन्होंने लिखा है—"नेपाल-राज्य का क्षेत्रफल ४,००० ली है। राजधानी २० ली में विस्तृत है। राजा जाति का क्षत्रिय और लिच्छवि-वंश का है, किंतु आगे वह लिखते हैं—"थोड़े दिन हुए, इस देश में अंशुवर्मन्-नामक एक बड़ा विद्वान् और बुद्धिमान् राजा हो गया है। इसके प्रभाव और विद्या-प्रेम की कीर्ति चारो ओर फैल गई थी, तथा इसने स्वयं भी शब्द-विद्या (व्याकरण) पर एक उत्तम ग्रंथ लिखा था।" इससे जान पड़ता है कि वह अंशुवर्मन् की मृत्यु के पश्चात् नेपाल पहुँचे थे, जब जिष्णु-गुप्त राज्य कर रहा था।

सन् ८८० ई० में नेपाल का लिच्छवि-शासन ढीला पड़ा, और राज्य की बागडोर एक दूसरे वंश के हाथ में चली गई। उसी समय नेपाली संवत् भी शुरू हुआ। इस वंश में गुणकामदेव राजा हुए, जिन्होंने काठमांडू नगर बसाया। इन्हीं के समय में भारत के गौड़देश के राजा प्रचंडदेव नेपाल आकर भिक्षु हो गए थे। इन्होंने

की सीमा जाती थी। सारा मधेश मध्य-देश में सम्मिलित था। मधेश शब्द मध्य-देश का ही अपभ्रंश है। वर्तमान नेपाल-राज्य के अंतर्गत स्थित लुंबनी, कपिलवस्तु, बुटौल, वीरगंज आदि स्थान भारत के जनपदों में थे। कोसल-नरेश प्रसेनजित का राज्य पर्वतीय प्रदेशों तक फैला हुआ था, जहाँ भगवान् भिक्षु-संघ के साथ विचरण करते थे। संयुक्त निकाय में आया है कि एक बार भगवान् ने बहुत बड़े भिक्षु-संघ के साथ हिमालय की तराई (हिमवंत पस्से) की आरण्य-कुटी में विहार किया था *।

बुद्ध-काल में नेपाल-राज्य की क्या अवस्था थी, इसे निश्चित रूप से नहीं बताया जा सकता। स्वयंभू पुराण के अनुसार भगवान् नेपाल गए थे, और उपदेश दिया था।

अशोक-काल में, ईसा से तीन सौ वर्ष पूर्व, सारा नेपाल भारत-सम्राट् अशोक के अधीन था। जैसा पहले मैंने बताया है, अशोक अपनी पुत्री चारुमती और अपने दामाद देवपाल के साथ नेपाल गया था। चारुमती भिक्षुणी हो नेपाल में ही रह गई थी, और देवपाल ने भी वहीं वास किया था।

प्रथम शताब्दी ईस्वी में नेपाल पर लिच्छवि-वंश का राज्य स्थापित हो गया था। इसने नवीं शताब्दी तक नेपाल पर शासन किया था। गुप्त-काल में भारत के राजाओं का नेपाली शासकों पर पूरा प्रभाव था। सम्राट् स्कंदगुप्त की प्रयाग की प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि उसने प्रत्यंत नेपाल के राजा को भी कर देने तथा आज्ञा मानने के लिये बाध्य किया था। यही कारण है कि नेपाल के लेखों में गुप्त-संवत् का प्रयोग पाया जाता है।

हर्ष-काल में नेपाल का शासक अंशुवर्मन् था, जिसने तिब्बत के

---

* संयुक्त नि० १,२,३,५।

शासक स्रोङ्-चन-गँबो को अपनी पुत्री भृकुटी को दिया था, और उसे अपना सम्राट् मानता था। हर्ष की मृत्यु के बाद जब चीनी सम्राट् ने अपने उच्चाधिकारी वाग-हुयेन-त्से के साथ एक सद्भावना-मंडल कान्यकुब्ज भेजा था, और भारत के तत्कालीन नरेश अर्जुन ने उनका विरोध करके बहुत-से लोगों को मार डाला था, तब नेपाल, तिब्बत और चीन की सेनाएँ एक साथ भारत में युद्ध-हेतु आई थीं, जिन्होंने अर्जुन को युद्ध-बंदी बनाया, बहुत-से लोगों को मारा, बारह हजार स्त्री-पुरुषों को कैद किया, बीस हज़ार पशु पकड़े, और पाँच सौ अस्सी नगरों पर अधिकार किया। हम देखते हैं, उस समय तिब्बत, नेपाल और चीन के शासकों में परस्पर घनिष्ठ संबंध था। तिब्बत का शासक प्रधान था, उसे चीन और नेपाल के शासकों ने अपनी-अपनी पुत्री दी थी। उसी समय चीनी भिक्षु श्यूआन-चुआङ् ने नेपाल की यात्रा की थी। उन्होंने लिखा है—"नेपाल-राज्य का क्षेत्रफल ४,००० ली है। राजधानी २० ली में विस्तृत है। राजा जाति का क्षत्रिय और लिच्छवि-वंश का है, किंतु आगे वह लिखते हैं—"थोड़े दिन हुए, इस देश में अंशुवर्मन्-नामक एक बड़ा विद्वान् और बुद्धिमान् राजा हो गया है। इसके प्रभाव और विद्या-प्रेम की कीर्ति चारो ओर फैल गई थी, तथा इसने स्वयं भी शब्द-विद्या (व्याकरण) पर एक उत्तम ग्रंथ लिखा था।" इससे जान पड़ता है कि वह अंशुवर्मन् की मृत्यु के पश्चात् नेपाल पहुँचे थे, जब जिष्णु-गुप्त राज्य कर रहा था।

सन् ८८० ई० में नेपाल का लिच्छवि-शासन ढीला पड़ा, और राज्य की बागडोर एक दूसरे वंश के हाथ में चली गई। उसी समय नेपाली संवत् भी शुरू हुआ। इस वंश में गुणकामदेव राजा हुए, जिन्होंने काठमांडू नगर बसाया। इन्हीं के समय में भारत के गौड़देश के राजा प्रचंडदेव नेपाल आकर भिक्षु हो गए थे। इन्होंने

स्वयंभू-चैत्य के पास रहकर अनेक धार्मिक कार्य किए। इनका भिक्षु नाम शांतिकर आचार्य था।

यक्षमल्ल के समय में नेपाल का राज्य कई छोटे-छोटे राज्यों में बँट गया। यक्षमल्ल (सन् १४६० ई०) ने अपने तीन पुत्रों और कन्या को भातगाँव, पाटन, काठमांडू और बनेपा के राज्य देकर नेपाल को निर्बल बना दिया। सन् १७३८ ई० में नेपाल-राज्य को शक्ति-हीन जानकर गोरखा राजा नरभूपाल ने नेपाल पर चढ़ाई की, और त्रिशूली-नदी पार कर नुवाकोट में युद्ध किया। इस युद्ध में गोरखा राजा पराजित होकर भाग गया। उत्तरी भारत में मुसलमानों से दबकर सिसोदिया-वंश ने गोर्खा में आकर अपनी शक्ति जमाई थी। वह वंश अपनी राज्य-सीमा के विस्तार की चिंता में सर्वदा लगा रहता था। नरभूपाल के देहांत के पश्चात् उसका पुत्र पृथ्वीनारायण रणजीत के शासन-काल में नेपाल को देखने आया। रणजीत ने उसका विनीत आचार-व्यवहार देखकर अपने पुत्र नृसिंह से मित्रता करा दी, किंतु युवराज अकाल में ही इस असार संसार से चल बसा। इस प्रकार भातगाँव के सूर्यवंशी राजाओं का वंश नष्ट हो गया।

तेजनरसिंह के शासन-काल में पृथ्वीनारायण ने पाटन पर चढ़ाई की, जिसे रणजीत ने बुलाया था। इस बार १५ दिन तक लगातार युद्ध हुआ। पृथ्वीनारायण बार-बार हारने पर भी नेपाल को जीतने की इच्छा नहीं छोड़ता था। उसने सन् १७६५ ई० में कीर्तिपुर पर चढ़ाई की, और असफल हो जाने पर पुनः दो बार धावा बोला। तीसरी बार उसकी विजय हुई। उसने कीर्तिपुर में पाशविक अत्याचार किया। सन् १७६७ ई० में यहाँ के नेवार राजा को उसने छल से परास्त करके, नगर में प्रवेश कर सभी बालक, स्त्री, बूढ़े नगर-वासियों की नाक कटवा ली। जो लोग बाँसुरी बजाना जानते थे, उनको इस दंड से वंचित कर दिया। उस समय कादर गैसनी-नामक

एक पादरी कीर्तिपुर में था, उसने अपने लिखे नेपाल के इतिहास में पृथ्वीनारायण के अत्याचार की बहुत-सी बातें लिखी हैं। बीस वर्ष बाद जब कर्नल पैट्रिक नेपाल गए, तब उन्होंने भी बहुत-से नासा-हीन लोगों को देखा था। पृथ्वीनारायण ने कीर्तिपुर का नाम बदल-कर 'नासकाटापुर' रख दिया।

कीर्तिपुर के उस अत्याचार की सूचना जब नेवार राजा द्वारा अँगरेज़ों को मिली, तब (सन् १७६७ ई० के आरंभ में) कीनलोक ने नेपाल पर चढ़ाई की, किंतु ऋतु अनुकूल न होने से उसे लौट जाना पड़ा। सन् १७६८ में, जब नेपाल में इंद्र यात्रा का उत्सव हो रहा था, पृथ्वीनारायण ने काठमांडू को आ घेरा। काठमांडू के राजा तेजनरसिंह ने अनेक प्रयत्न किए, किंतु अंत में अपने को निर्बल जानकर वहाँ से उसे भाग जाना पड़ा।

पृथ्वीनारायण ने भातगाँव पर भी चढ़ाई की, और वहाँ के राजा जयप्रकाश को मारकर, सन् १७६९ ई० के आरंभ में नेपाल के पुराने राजवंश को समाप्त कर गोरखा-राज्य स्थापित किया। इसने अपने राज्य का विस्तार उत्तर में किरोण और कुटी, पूर्व में विजयपुर और शिकम की सीमा पर बहती हुई मेची-नदी, दक्षिण में मकवानपुर और तराई एवं पश्चिम में सतगंडकी तक किया। उसने अपनी राजधानी भी काठमांडू में बनवाई।

महाराज पृथ्वीनारायण के समय से सन् १८४६ तक, नेपाल पर उन्हीं के वंशजों का आधिपत्य रहा, परंतु महाराज राजेंद्रविक्रमशाह के काल में एक क्रांति हुई, जिसने वर्तमान शासन-पद्धति को जन्म दिया। इस क्रांति के कारण महाराज जंगबहादुर ने शासन-सूत्र अपने हाथ में ले लिया। महाराज जंगबहादुर ने अपने लिये महामंत्री का पद रक्खा, और उसी दिन से महाराज पृथ्वीनारायण के वंशज केवल नाम-मात्र के महाराजाधिराज रह गए। वास्तविक शक्ति

जंगबहादुर के राणा-वंश में चली गई। महाराजाधिराज का किसी विषय में कोई अधिकार नहीं रहा।

महाराज जंगबहादुर ने अपने भाइयों की सहायता से शक्ति प्राप्त की थी। इस कारण उन्होंने नियम बना दिया कि महामंत्री का पद, जिसे महाराज और श्री३ सरकार भी कहते हैं, रिक्त होने पर सबसे बड़े भाई को मिले। और, यदि कोई भाई न हो, तो दूसरी पीढ़ी में वंश के सबसे बड़े लड़के को मिले। इस प्रकार महाराज जंगबहादुर के कुल से उत्पन्न प्रत्येक व्यक्ति नेपाल का राजा बनने की बात सोच सकता है; यद्यपि यह असंभव-सा है, क्योंकि ऐसे व्यक्तियों की संख्या इस समय दो सौ से कम न होगी।

इस शासन-व्यवस्था से देश की उन्नति में बाधा उत्पन्न हो गई। जो महाराजा होते हैं, उन्हें यह भरोसा नहीं रहता कि उनके पश्चात् उनकी संतान की आर्थिक अवस्था संतोष-जनक होगी, इसलिये वे राज-कोष से अधिक-से-अधिक रुपया एकत्र कर अपने पुत्रों के नाम विदेशी बैंकों में जमा कर देते हैं, या व्यापार-कार्य में लगाकर उनके भविष्य-जीवन के लिये हुंडी तैयार करते हैं। उनके लिये भवन बनाना, अधिक-से-अधिक जागीर (बिर्ता) देना महाराजा का ध्येय होता है। राज्य की स्थायी उन्नति में धन-व्यय करना उनके लिये निजी हानि होती है। पाटन से काठमाडू आते समय मैंने बड़ी-बड़ी चहारदीवारियाँ देखीं, जिनका विस्तार भी कम न था। ये चहारदीवारियाँ नेपाल के राणा-वंश के महामंत्रियों (महाराजा या प्रधान मंत्री) के निवास-स्थान के रूप में घिरी हुई जागीरें हैं, जिनमें नेपाल-वासियों का शोषण करके, उनके रक्त के तुल्य पैसों से लाखों के महल खड़े किए गए हैं। यदि भले प्रकार घूमकर काठमाडू को देखा जाय, और विचार किया जाय इन महलों का, तो स्पष्टतः जान पड़ेगा कि नेपाल के इन भविष्य-धन के भुक्खड़

मंत्रियों ने सारे काठमांडू को अपने महल की दीवारों में घेर रक्खा है।

जंगबहादुर ने अपने वंश के लिये स्थायी रूप से प्रधान मंत्रित्व तो हस्तगत कर ही लिया, साथ ही कास्की और लामजुंग, दो सामंत राज्यों को भी प्रधान मंत्री की जागीर में मिलाकर अपने लिये महाराजा का पद भी प्राप्त किया। उसके पश्चात् अपने नाम के पीछे 'कुँवर' के बदले 'राणा' लगाना प्रारंभ किया; राणा जंगबहादुर ने अपने एक भाई को पाल्पा और बुटौल का अधिकारी भी बना दिया। वास्तव में नेपाल के प्रधान मंत्री सारे नेपाल के महाराजा नहीं है, जैसा घोषित किया जाता है, प्रत्युत सारे नेपाल के प्रधान मंत्री और कास्की तथा लामजुंग के महाराजा है।

जंगबहादुर के बाद उनके भाई रणोद्दीपसिंह प्रधान मंत्री हुए, जिन्हें उनके भतीजे 'कमांडर इन चीफ़' धीरशमशेर के लड़कों ने गोली से मारकर प्रधान मंत्रित्व प्राप्त किया। जंगबहादुर के लड़के भी, जो प्रतिष्ठित पदों पर पहुँच चुके थे, मार डाले गए, और कुछ निर्वासित कर दिए गए। इस प्रकार धीरशमशेर का बड़ा लड़का वीरशमशेर प्रधान मंत्री हुआ। धीरशम्शेर के सत्रह लड़के थे। अब उनका अधिकार बढ़ा, और जंगबहादुर के सात भाइयों की संतान की शक्ति धीरशमशेर के अतिरिक्त हट गई। आज उसी जंगबहादुर की बहुत-सी संतान, जिसने प्रधान मंत्रित्व प्राप्त किया, और जिनके पौरुष के गर्व में सभी सत्रह भाई जंगबहादुर राणा का खिताब अपने नाम के पीछे लगाते हैं, भारत तथा नेपाल में बिखरी पड़ी है, जिसे आजीविका की कठिनाई सता रही है।

वीरशमशेर के बाद देवशमशेर (सन् १९०१ ई० में) प्रधान मंत्री हुए, किंतु वह केवल तीन ही महीने रहे। इनके छोटे भाई चंद्रशमशेर ने इन्हें निर्वासित कर दिया, और स्वयं उनतीस वर्ष तक शासन किया।

जंगबहादुर के पश्चात् केवल इन्हीं ने अधिक दिन शासन किया। इनके शासन-काल में नेपाल की प्रजा का आर्थिक शोषण सबसे अधिक हुआ।

चंद्रशमशेर के बाद भीमशमशेर और जुद्धशमशेर क्रमशः प्रधान मंत्री हुए। जुद्धशमशेर अपनी पीढ़ी के अंतिम प्रधान मंत्री थे। उन्होंने तेरह साल शासन करके, अपनी स्वेच्छाचारिता के अपराध से भयभीत होकर पद-त्याग किया। उनके बाद पद्मशमशेर ने शासन की बागडोर अपने हाथ में ली, किंतु यथेष्ट शासन-प्रबंध न कर सकने के कारण इन्होंने इस वर्ष में अपने स्थान को मोहनशमशेर के लिये खाली कर दिया है। अब श्रीमोहनशमशेर नेपाल के महाराजा हैं।

नेपाल के राणा लोग स्वेच्छाचारी तथा अनियंत्रित होते हैं। कोई रूपवती बहू-बेटी इनकी दृष्टि में यदि पड़ जाय, तो क्या मजाल कि वह उसी दिन इनके महल में न बुलवा ली जाय। राणा-शाही के पूर्व प्रतापमल्ल ने लगभग तीन हज़ार स्त्रियों को अपनी स्त्री बनाया था। वह पुरानी नेपाल की प्रथा इन राणाओं में भी चली आ रही है। रात को दस बजे काठमांडू में तोप की आवाज़ होती है, और तब से कोई भी व्यक्ति बाहर नहीं निकल सकता। यह एक प्रकार का 'कर्फ़्यू' है, 'कर्फ़्यू' होने पर ये राणा लोग अपनी प्रजा के घर जाकर क्या-क्या नहीं कर डालते? उनके लिये 'कर्फ़्यू' नहीं होता!

राणाओं के दरबारों में प्रातः-सायं सब प्रतिष्ठित व्यक्तियों को हाज़िरी बजानी पड़ती है, जिसे नेपाल में चाकरी कहते हैं। जब कोई जनरल बाहर निकलते या अपने कंपाउंड में घूमते हैं, तो लोगों की आध मील की कतार बन जाती है। इस लंबी कतार में सबके ऊपर राणा की दृष्टि कैसे पड़ सकती है? जिस पर पड़ जाती है, वह अपना महान् सौभाग्य समझता है।

(५) रेल और रोप-विभाग	१० लाख
(६) टेलीफ़ोन	५ ,,
(७) खैर का विक्रय और ठेका	५ ,,
(८) राज्य के अड्डा-खाना	३० ,,

(२) पर्वत और नेपाल-उपत्यका से—

(१) मालगुज़ारी और गुठी (देवोत्तर संपत्ति)	१ करोड़ ५० लाख
(२) भंसार (चुंगी) आदि	२० लाख
(३) झारा (बेगारी) आदि	५ ,,
(४) विद्युत्-विभाग	२ लाख ५० हज़ार
(५) यातायात	१ लाख, ५० हजार
(६) भारत-सरकार की ओर से (सैनिक व्यय)	१० लाख
(७) तिब्बत-सरकार ,, ,,	१० हज़ार
(८) नहर	६० ,,
(९) सिगरेट का ठेका	१३ लाख

(३) बिर्ता

(१) राणा लोगों को बिर्ता से प्राप्त	३ करोड़

इस प्रकार कुल आय नौ करोड़, दो लाख, सत्तर हज़ार है।

व्यय

(१) निजामति (न्याय-विभाग)	३० लाख
(२) जंगी	३६ ,,
(३) कप्तान और सुब्बा	२ ,,
(४) 'ए' क्लास के राणाओं का भत्ता	२२ ,,
(५) कमांडर जनरल	३ ,,
(६) कमांडर इन चीफ़	८३ हज़ार
(७) प्रधान मंत्री और उनकी रानी	४ लाख

(८)	'बी' और 'सी' क्लास के राणाओं का वेतन	१४ लाख
(९)	'बी' और 'सी' क्लास के राणाओं को भत्ता	१२ ,,
(१०)	प्रधान मंत्री की यात्रा	८ ,,
(११)	महाराजाधिराज का व्यय	६० हज़ार
(१२)	राणा-संतति का व्यय	१ लाख
(१३)	प्रधान मंत्री और कमांडर जनरल की विधवाओं को भत्ता	६ लाख
(१४)	गुरु और पुरोहित को भत्ता	३ ,,
(१५)	नेपाल के भारती दूतावास के लिये	१ ,,
(१६)	विलायत में नेपाली दूतावास के लिये	१ ,,
(१७)	भारत और तिब्बत के नेपाली दूतावास के लिये	५० हज़ार
(१८)	बाँध-निर्माण आदि	५ ,,
(१९)	मार्ग-निर्माण	५ ,,
(२०)	टेलीफ़ोन	४ ,,
(२१)	विद्युत्-विभाग	१० ,,
(२२)	डाक-विभाग	५ हज़ार
(२३)	तोप-विभाग	३ ,,
(२४)	शिक्षा और स्वास्थ्य-विभाग	३ लाख

इस प्रकार कुल व्यय एक करोड़, अड़तालीस लाख, चौहत्तर हज़ार है, और बचत सात करोड़, तिरपन लाख, छानबे हज़ार * । इससे नेपाल की पर्याप्त समृद्धि हो सकती है, यदि इस बचत का सदुपयोग किया जाय ।

---

* 'आज को नेपाल'-नामक गोरखाली पुस्तिका के आधार पर ।

इस समय नेपाल के महाराजाधिराज, जिन्हें श्री ५ सरकार भी कहते हैं, त्रिभुवनवीरविक्रमशाहदेव हैं, और प्रधान मंत्री मोहन-शमशेर। कानूनन महाराजाधिराज को शासन-प्रबंध में दखल देने का कोई अधिकार नहीं है। प्रधान मंत्री शासन के एकच्छत्र अधिराज होते हुए भी खानदानी अनेक दाँव-पेचों में बहुत कुछ बँधे हुए हैं। यद्यपि वे नेपाल के निरंकुश तानाशाह हैं, प्रधान न्यायाधीश और प्रधान विधान-निर्माता हैं, उनकी इच्छा ही कानून है, फिर भी डर रहता है कि कहीं उन्हें गोली का शिकार न हो जाना पड़े। इधर वर्तमान प्रधान मंत्री मोहनशमशेर नेपाल की उन्नति के लिये बहुत कुछ यत्न कर रहे हैं। राज्य में कई एक नई फ़ैक्टरियाँ खोली जा रही हैं। विलायत से अनेक वैज्ञानिक भू-गर्भ में छिपी अतुल धन-राशि का अन्वेषण करने के लिये आ रहे हैं। विदेशी यात्रियों के प्रति इनकी सद्भावना बनी हुई है।

सन् १८१६ की सुगौली की संधि के अनुसार नेपाल-सरकार ने भारत-सरकार को मंसूरी, नैनीताल, शिमला आदि स्वास्थ्यदायक स्थान दे दिए थे। प्रथम महायुद्ध के उपरांत सन् १९२३ में गोरखा सैनिकों की सहायता के कारण सुगौली के संधि-पत्र का संशोधन भी हुआ था। इससे पूर्व नेपाल में अँगरेज रेजीडेंट रहता था, जो उस समय से 'एनवाय' (राजदूत) कर दिया गया, और तब से आज तक दौत्य संबंध केवल भारत, ब्रिटेन और तिब्बत से ही रहा है, किंतु अब मोहनशमशेर ने अन्य राष्ट्रों में भी अपने राजदूत भेजने का विचार किया है।

मोहनशमशेर की यह सूझ प्रशंसनीय और अनुमोदनीय है। इससे न केवल नेपाल की ही भलाई होगी, प्रत्युत उनके खानदान के सैकड़ों बेकार व्यक्तियों की आजीविका का प्रश्न हल हो जायगा, और विश्वबंधुत्व का भाव जाग्रत होगा; किंतु जब तक पुरानी शासन-

व्यवस्था का विलय या उसका प्रधान रूप से संशोधन न होगा, तब तक नेपाल-राज्य की जनता सुखी नहीं हो सकती।

अस्तु। राणाशाही में सुधार होने की तथा प्रजा को पूर्ण रूप से नागरिक स्वतंत्रता के अधिकार देने की आवश्यकता है। नेपाल-वासियों को नागरिक स्वतंत्रता के अधिकार से सर्वथा वंचित रखना अन्याय-पूर्ण है। यदि ऐसा ही रहा, तो संभव है, भविष्य में नेपाल को एक महान् क्रांति का शिकार होना पड़े।

नेपाल में बौद्ध-धर्म

बुद्ध-काल (ई० पूर्व ५७८-५४३) में यद्यपि बौद्ध-धर्म भारत के कोने-कोने में पहुँच चुका था, किंतु हिमालय-प्रदेश की पर्वत-शृंखलाओं की दूनें उससे वंचित थीं। भगवान् बुद्ध उत्तर में हिमालय की तलहटी के सापुगनिगम* (क़स्बा) और उशीरध्वज† पर्वत तक ही पहुँचे थे। संभव है, भिक्षु उनसे कुछ आगे भी बढ़े हों, किंतु यह निश्चित है कि नेपाल-उपत्यका ईसा की तीसरी शताब्दी पूर्व तक बौद्ध-धर्म से अछूती थी। स्वयंभू पुराण के अनुसार नेपाल में सभी बुद्ध आए थे, किंतु नेपाल-उपत्यका कश्यप भगवान् के समय तक जल-राशि से पूर्ण एक महासरोवर थी। वहाँ भगवान् गौतम बुद्ध के भी शिष्यों-सहित पहुँचने का वर्णन है। यदि बुद्ध-काल में नेपाल में बौद्ध-धर्म पहुँचा होता, तो संभव न था कि महाराज अशोक वहाँ धर्म-प्रचार के लिये महाप्रतापी धर्मदूतों को भेजते।

वर्तमान नेपाल-राज्य की सीमा के भीतर इस समय वंजी, मल्ल, कोलिय और शाक्य गणतंत्र तथा कोशल-नरेश प्रसेनजित के राज्य फैले हुए थे। ये हिमालय की तलहटी (जिसे आजकल मधेश कहते हैं) से लेकर कुछ ऊपरी भाग तक चले गए थे। कोशल-राज्य की सीमा बहुत कुछ पर्वतीय प्रदेश तक पहुँची हुई थी। पालि-ग्रंथों में अनेक स्थलों पर इसका स्पष्ट उल्लेख है। भगवान् बुद्ध ने कई बार शिष्यों-सहित कोशल-राज्य में हिमालय की तलहटी में विहार किया

---

* अंगुत्तरनिकाय ४, ४, ५, ४

† महावग्ग का चम्मक्खंधक

था। उशीरध्वज पर्वत वर्तमान हरिद्वार के आस-पास का कोई पर्वत था, वहाँ भी भगवान् के पहुँचने का उल्लेख है। अतः स्पष्ट है कि बुद्ध-काल में नेपाल-राज्य का सारा दक्षिणी भाग बौद्ध-धर्म के प्रभाव से प्रभावित था। भगवान् का जन्म भी तो मधेश-स्थित लुंबिनी (वर्तमान रुम्मिनदेई) में ही हुआ था। कपिलवस्तु राजधानी थी। हम कह सकते हैं कि नेपाल-उपत्यका से लेकर पूर्व में कोशी और पश्चिम में गंडकी तथा कर्नाली तक का सारा पर्वतीय प्रदेश उस समय बौद्ध-धर्म से अनभिज्ञ था, किंतु भीतरी (भित्री) मधेश और खास मधेश भिक्षु-भिक्षुणियों तथा उपासक-उपासिकाओं से भरा हुआ था।

महाराज अशोक के समय जब तीसरी धर्म-संगीति हुई, और विभिन्न देशों में धर्म-प्रचारक भेजे गए, तब उनके दो जत्थे उत्तर के प्रदेशों में भी गए थे। एक में मज्झंतिक स्थविर के साथ चार अन्य भिक्षु थे, जिन्होंने गंधार और कश्मीर देश में धर्म का प्रचार किया, और दूसरे में मज्झिम स्थविर के साथ काश्यप-गोत्र, अलकदेव, दुंदुभिस्सर और महादेव स्थविर थे, जिन्होंने हिमवंत-प्रदेश में बुद्ध-शासन का प्रचार किया। महावंश में लिखा है कि मज्झिम आदि स्थविरों ने वहाँ जाकर 'धम्मचक्कपवत्तन सुत्त'* का उपदेश दिया था। उनके उपदेश को सुनकर अस्सी करोड़ मनुष्यों को मार्ग-फल और त्रिरत्न का लाभ हुआ था। पाँचों स्थविरों ने भी अलग-अलग पाँच राष्ट्रों में धर्म का प्रचार किया था। प्रत्येक के पास एक-एक लाख व्यक्ति प्रव्रजित हुए थे†।

इस बात की पुष्टि साँची के दूसरे नंबर के स्तूप में पाए गए अस्थि-संपुट (धातु-करंड) से हो गई है। यद्यपि वह अस्थि-संपुट मोग्गलिपुत्ततिस्स स्थविर का था, किंतु उसके दूसरे तले पर

---

* संयुत्तनिकाय ५, ५४, २, १

† महावंश १२, ४१-४२

तथा दुन्दुभिस्सर के ऊपर और अंदर हारीतिपुत्त, मज्झिम तथा सब्बहेमवताचरिय (सम्पूर्ण हिमालय के आचार्य) कासपगोत (काश्यप-गोत्र) खुदा हुआ था; इस अस्थि-संपुट में उन महान् धर्म-प्रचारकों की धातुएँ (अस्थियाँ) रक्खी गई थीं, और वह स्तूप उन्हीं की धातुओं पर बनाया गया था।

साँची से पाँच मील पर सोनारी के दूसरे स्तूप में से पाए गए एक अस्थि-संपुट पर फिर उसी कासपगोत का नाम खुदा हुआ था, और एक दूसरे पर हिमालय के दुदुभिसर (दुंदुभिस्सर) के दायाद (उत्तराधिकारी) गोतीपुत का।

अब यह देखना है कि इन पराक्रमी महात्मा स्थविरों ने किन पार्वत्य राष्ट्रों में धर्म का प्रचार किया था? ऊपर मैंने बतलाया है कि गांधार और कश्मीर में धर्म के प्रचारार्थ मज्झंतिक स्थविर चार अन्य भिक्षुओं के साथ भेजे गए थे। तिब्बत में धर्म का प्रचार पीछे नेपाल से हुआ था। अतः स्पष्ट है कि मज्झिम आदि स्थविरों ने कश्मीर से पूरब पूर्वी नेपाल तक के सारे हिमवंत-प्रदेश में बौद्ध-धर्म का प्रचार किया था। पं० जयचंद्र विद्यालंकार का यह कहना ठीक है कि इन पराक्रमी धर्म-प्रचारकों ने चंबा से जालसार तक तथा गढ़वाल-कुमाऊँ से पूर्वी नेपाल तक प्रत्येक देश में भगवान् बुद्ध की विमल वाणी का प्रचार करने का यत्न किया, एवं बौद्ध-संस्कृति की विजय-दुंदुभी बजाई। उनके कानों में भगवान् बुद्ध की यह वाणी मानो सदा गूँज रही थी—

"मेरे धर्म-घोष का उद्घोषण करते,
मेरे धर्म-नगाड़े को पीटते,
भली भाँति मेरे धर्म-शंख को फूँकते,
तुम लोग देव और मनुष्यों की भलाई के लिये घूमो।
संसार में मेरे विजय की ध्वजा उड़ाते,

मेरे धर्म-केतु को फहराते,
मेरे धर्म-रूपी भाले को उठाते,
देव और मनुष्य-लोकों में घूमा।" *

साँची और सोनारी के मिले हुए लेखों से यह भी सिद्ध है कि उन स्थविरों का काम बहुत ही प्रभावशाली और सफलता-पूर्ण था, क्योंकि उन्होंने धर्म-विजय की एक बृहद् योजना बनाकर पाँच पर्वतीय देशों में संबुद्धशासन की स्थापना की थी, तथा जितनी सफलता उन्हें मिली थी, उतनी कश्मीर और गंधार1, महिष्मंडल 2, बनवास,3, अपरांत4, महाराष्ट्र, स्वर्ण-भूमि 5 एवं लंका में गए धर्म-प्रचारकों को नहीं मिली थी। यह भी प्रकट है कि उनका कार्य उनके साथ ही समाप्त न हो गया, प्रत्युत उनके उत्तराधिकारी उनके पीछे भी नियमतः कार्य करते रहे। उन्हीं के द्वारा उनकी अस्थियाँ भारत लाई गई थीं।

हम कह आए हैं कि सम्राट् अशोक स्वयं नेपाल आए थे। उनके दामाद और पुत्री यहीं रह गए थे। उन्होंने धर्म की नाना प्रकार से उन्नति में सहयोग दिया था। इससे यह भी प्रकट होता है कि अशोक के नेपाल पहुँचने से पूर्व ही मज्झिम आदि स्थविरों ने नेपाल में धर्म का प्रचार किया था।

दीपवंश में लिखा है कि मज्झिम स्थविर आदि ने हिमालय में यक्ष-

---

* समंतकूट वरणना
1 पंजाब में पेशावर और रावलपिंडी के ज़िले
2 आधुनिक खानदेश, नर्मदा से दक्षिण
3 वर्तमान मैसूर का उत्तरीय भाग
4 समुद्र-तट पर बंबई से सूरत तक का प्रदेश
5 वर्तमान पेगू, बर्मा

गणों में धर्म का प्रचार किया *। यहाँ यक्ष हिमालय के निवासी बतलाए गए हैं। गंधार और कश्मीर में धर्म-प्रचार का वर्णन करते हुए महावंश में कहा गया है—"हिमालय प्रदेश के चौरासी हजार नागों, बहुत-से गंधर्वों, यक्षों तथा कुम्भंडों ने शरण और शील को धारण किया। पाँच सौ पुत्रों और हारीति यक्षिणी के साथ पंडक-नामक यक्ष ने स्रोतापत्ति-फल को प्राप्त कर लिया। स्थविर ने उनको यह कहकर उपदेश दिया—'अब इसके पश्चात् पहले की तरह क्रोध मत उत्पन्न करना, खेती का नाश मत करना, क्योंकि सब प्राणी सुख की कामना करते हैं, सबमें मैत्री-भावना रखना, जिसमें सब मनुष्य सुख से रहें।' उन्होंने उसको वैसे ही स्वीकृत किया।" इससे प्रकट है कि गंधार और कश्मीर से लेकर पूर्वी नेपाल तक सारा हिमवत प्रदेश यक्षों का निवास-स्थान था। उधर बर्मा और लंका भी यक्षों से भरे हुए थे, जिनका विशद वर्णन 'सासन वंस' और 'महावंस' में आया हुआ है। सिंहलार्थबाहु के उपाख्यान से सिंहल यक्ष-यक्षिणियों से आकीर्ण था। पौराणिक साहित्य में भी हिमालय को सदा यक्षों का घर बताया गया है। विद्वानों का कहना है कि ये यक्ष वहाँ के आदिम निवासी और मनुष्य-वंश के थे। अब भी नेपाल में 'याखा' नाम की एक बोली विद्यमान है, जो यक्ष नाम की याद दिलाती है। किंतु ऐसा जान पड़ता है कि यक्ष शब्द प्राचीन काल में केवल आजकल के 'याखा' लोगों के पूर्वजों के लिये नहीं, प्रत्युत एक व्यापक जातिवाचक शब्द के रूप में आग्नेय वंश की अनेक जातियों के लिये व्यवहृत था†।

---

*"कस्सपगोत्तो यो थेरो मज्झिमो च दुन्दुभिस्सरो;
सहदेवो मूलकदेवो यक्खगणं पमादयं
कथेसुं तत्थ सुत्तन्तं धम्मचक्कप्पवत्तनं।"

† भारत-भूमि और उसके निवासी।

साराश यह कि नेपाल में सम्राट् अशोक से पूर्व बौद्ध-धर्म नहीं पहुँचा था। मज्झिम आदि स्थविरों ने ही वहाँ सर्व प्रथमबौद्ध-धर्म का बिगुल बजाया था, और उसी समय वहाँ विहारों, स्तूपों और आरामों का निर्माण हुआ था। नेपाल का अशोकपट्टन, जिसे ललितपुर और पाटन भी कहते हैं, ईसा से २५० वर्ष पूर्व अशोक द्वारा ही बसाया गया था।

सम्राट् अशोक के बाद नेपाल में बौद्ध-धर्म का धीरे-धीरे प्रसार ही होता गया। यहाँ के एक लाख भिक्षुओं ने इस कार्य में अपना जीवन लगा दिया। जिन प्रदेशों में बुद्ध-धर्म नहीं पहुँचा था, वहाँ उन धर्म-प्रचारकों की परंपरा सदा जाती रही। भारत से बौद्ध भिक्षुओं का आना-जाना बना रहा।

हम देखते हैं कि पीछे नेपाल के मल्ल और लिच्छवि शासक-गण प्रायः बौद्ध थे, और उन्होंने नेपाल को बौद्ध-धर्म का एक प्रमुख केंद्र बना दिया था। अंशुवर्मन (ई० सन् ६४०-४५) ने न केवल नेपाल में ही, प्रत्युत तिब्बत में भी बौद्ध-धर्म के प्रचार में सहयोग दिया। अंशुवर्मन के समय में भारत में बौद्ध राजा हर्षवर्धन राज्य कर रहा था। दोनों में प्रगाढ़ संबंध था। नए-नए भिक्षुओं का आना-जाना लगा था। उधर तिब्बत में उस समय 'स्रोङ्-चन-गेंबो' का शासन था। उसने नेपाल पर चढ़ाई करके अंशुवर्मन की पुत्री भृकुटी के साथ विवाह किया। उसका विवाह चीनी सम्राट् की पुत्री से भी हुआ था। जब भृकुटी तिब्बत जाने लगी, तब वह अपने साथ शाक्य मुनि, मैत्रेय और चंदन की तारा की मूर्तियाँ ले गई। चीन की राजकन्या ने भी एक पुरातन बुद्ध-मूर्ति दहेज में पाई, जो किसी समय भारत से मध्य-एशिया होते हुए चीन पहुँची थी। इन दोनों राजकुमारियों के प्रभाव से राजा स्रोङ्-चन-गेंबो बौद्ध हुआ था, और तब से लेकर आज तक तिब्बत बौद्ध-धर्मावलंबी है।

अंशुवर्मन के समय में भारतीय पंडित कुमार नेपाल होते हुए ही तिब्बत गए थे। भिक्षु शीलमंजु ने नेपाल से ही तिब्बत जाकर अनेक संस्कृत-ग्रंथों का तिब्बती में भाषांतर किया था, और संभवतः वह पंडित कुमार के साथ रानी भृकुटी के निमंत्रण पर वहाँ पधारे थे। तिब्बत में बौद्ध-धर्म के प्रचार में नेपाल का बहुत बड़ा हाथ रहा।

अंशुवर्मन की मृत्यु के थोड़े ही दिनों बाद चीनी भिक्षु ह्यूआन्-चुआङ् नेपाल गए। उन्होंने यद्यपि नेपाल का बहुत संक्षिप्त वर्णन लिखा है, तथापि उसमें बहुत-सी ज्ञातव्य बातों का ज्ञान होता है। उन्होंने लिखा है—"... ..अन्य मतावलंबी और बौद्ध मिले-जुले निवास करते हैं, तथा इन लोगों के संघाराम और देव-मंदिर पास-पास बने हुए हैं। कोई २,००० भिक्षु हीनयान और महायान के अनुयायी हैं। राजा क्षत्रिय तथा लिच्छवि-वंश का है। इसका अंतःकरण स्वच्छ तथा आचरण शुद्ध और सात्त्विक है। बौद्ध-धर्म से इसे बहुत प्रेम है।"

इससे नेपाल के तत्कालीन बौद्ध-धर्म का संक्षेप में परिचय मिल जाता है। स्पष्ट है कि सातवीं शताब्दी के मध्य भाग में नेपाल में स्थविरवाद तथा महायान, दोनों प्रकार के भिक्षु थे, और उनकी संख्या अपेक्षाकृत कम थी। शैव और शाक्त मतावलंबियों का भी प्रवेश था, किंतु वे बौद्धों के साथ हिल-मिलकर रहते थे। कभी उनके प्रति बुरी भावनाएँ नहीं उत्पन्न होती थीं। नेपाल के शासक लिच्छवि-वंशज बौद्ध-धर्मानुरागी थे। नेपाल में बहुत-से भिक्षु-विहार और संघाराम बने थे, जिनमें दोनों प्रकार के भिक्षु रहते थे।

नवीं शताब्दी में नेपाल में गुणकामदेव-नामक एक धार्मिक राजा राज्य कर रहा था। उसके समय में नेपाल में बौद्ध-धर्म की पुनः जागृति हुई थी। उसी समय भारत के गौडदेश का राजा प्रचंडदेव भिक्षु होकर नेपाल में वास करता था, जिसका भिक्षु-नाम शांतिकर

वज्राचार्य था। उसी ने स्वयंभू-चैत्य का निर्माण कराया था, ऐसा स्वयंभू पुराण में वर्णित है। किंतु भले प्रकार नेपाल और तिब्बत के इतिहास-ग्रंथ तथा स्वयंभू पुराण के अध्ययन से विदित होता है कि शान्तिकर आचार्य कोई दूसरे नहीं, वह आचार्य शान्तरक्षित (७५०-८४० ई०) का ही नाम है, जो अज्ञानता-वश स्वयंभू पुराण के लेखक ने 'शान्तरक्षित' का 'शान्तिकर' कर दिया।

तिब्बती इतिहास से हम जानते हैं कि आचार्य शान्तरक्षित का जन्म गौड़ देश में हुआ था। यह आठवें शतक के नालंदा-विश्वविद्यालय के प्रख्यात बौद्ध विद्वान् थे। इन्होंने अनेक ग्रंथ लिखे थे, जिनमें से निम्न-लिखित भोट-भाषा में अब भी मिलते हैं—

(१) सत्यद्वयविभंगपंजिका (टीका)
(२) मध्यमकालंकार-कारिका (,,)
(३) मध्यमकालंकार-वृत्ति (,,)
(४) बोधिसत्त्वसंवरविंशिका-वृत्ति (,,)
(५) तत्त्व-संग्रह-कारिका* (मौलिक)
(६) वादन्यायविपंचितार्थ (टीका)
(७) ज्ञान-सिद्धि (मौलिक)

इनमें से केवल तत्त्व-संग्रह-कारिका और ज्ञान-सिद्धि के ही मूल संस्कृत-ग्रंथों में प्राप्त हुए हैं।

यद्यपि आचार्य शान्तरक्षित ने विशेष रूप से तिब्बत में धर्म का प्रचार किया था, किंतु उन्हें नेपाल से बड़ा प्रेम था। उन्होंने नेपाल में अपने बहुत दिन व्यतीत किए थे। यों तो उन दिनों सभी भारतीय नेपाल होकर ही तिब्बत जाते थे, और नेपाल को

---

* यह ग्रंथ गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज़ (बड़ौदा) में प्रकाशित हो चुका है।

जनता द्वारा उनका पूरा आदर-सत्कार होता था, किंतु आचार्य शांत-रक्षित पहले तिब्बत जाने के लिये नहीं, प्रत्युत नेपाल में बौद्ध-धर्म के पुनरुत्थान-हेतु भारत आए थे। उन्होंने नेपाल में बहुत दिनों तक रहकर अपने गूढ़ ज्ञान का उपदेश दिया था; नेपालवासी आचार्य को बहुत मानते थे। आचार्य की भी उन पर विशेष कृपा थी। आचार्य ने नेपाल को अपना धर्म-क्षेत्र समझकर वहाँ वास किया था, और स्वयंभू-जैसे महान् चैत्य का निर्माण-कार्य आरंभ कराया था। राजा वृषकामदेव ने उनका पूर्ण रूप से सम्मान किया था, वह विद्वान् और योगी होने से नेपालवासियों के श्रद्धा-भाजन बन गए थे।

आचार्य को नेपाल गए अभी बहुत दिन नहीं हुए थे कि तिब्बत के सम्राट् ख्रि-स्रोङ् ल्दे वचन (ठि-सोङ्-देचन) ने आचार्य को अपने यहाँ बुलाने के लिये ज्ञानेंद्र को भारत भेजा। वह महाबोधि बुद्ध-गया के दर्शन के बाद नालंदा पहुँचा, किंतु उसके नालंदा पहुँचने से पूर्व ही आचार्य नेपाल चले गए थे, अतः उसने नेपाल के लिये प्रस्थान किया। जब नेपाल पहुँचा, तब वह उनका दर्शन कर फूला न समाया, और अपने सम्राट् का संदेश कह सुनाया। उन्होंने उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली।

आचार्य सत्कार-पूर्वक तिब्बत गए, किंतु कई एक कारणों से कुछ ही दिनों में पुनः नेपाल लौट आए, और वहाँ दो वर्ष रहकर धार्मिक कार्यों में समय व्यतीत किया।

दो वर्ष पश्चात् ज्ञानेंद्र फिर आचार्य के पास आया, और बहुत आग्रह करके उन्हें पुनः तिब्बत ले गया। भोट देश के ऐतिहासिकों का कहना है कि आचार्य ने इस बार राजा से उडोग के राज-वंशोत्पन्न आचार्य पद्मसंभव को बुलाने को कहा। वह भी कहते हैं कि पद्मसंभव ने मंत्र-बल से भोट के सभी देवी-देवता, डाकिनी, योगिनी, खसर्पिणी, यक्षिणी, भूत, प्रेत, वैताल आदि को परास्त

गया। वहाँ से उन्होंने गौड़ेश्वर महाराज नेपाल को एक पत्र लिखा, जिसका अनुवाद आज भी तंज्यूर में वर्तमान है।

तेरहवीं शताब्दी के प्रारंभ में जब भारत के बौद्ध-केंद्रों—नालंदा, विक्रमशिला, उड्डनपुर—का अंत हो गया, तब विक्रमशिला के प्रधान विहार और भारतीय बौद्ध-संघराज शाक्य श्रीभद्र (सन् ११२५ में) शरणार्थी के रूप में भारत से नेपाल गए। वह कश्मीर के रहनेवाले थे, किंतु कश्मीर न जाकर उन्होंने उत्तर पर्वतीय प्रदेशों में ही जाना उचित समझा, क्योंकि भारत में मुहम्मद बिनबख़्तियार ख़िलजी का ध्वंसकारी कार्य जारी था। वह नेपाली भिक्षु संघश्री की प्रार्थना से विभूतिचंद्र, दानशील, सुगतश्री आदि आठ पंडितों के साथ नेपाल गए, और वहाँ कुछ दिनों तक रहे। वहाँ से तिब्बत गए, और सन् १२१३ ई० में नेपाल होते हुए अपनी जन्म-भूमि कश्मीर को लौटे।

तेरहवीं शताब्दी के प्रारंभ में पावा, कुशीनगर, देवदह, लुंबिनी, कपिलवस्तु, श्रावस्ती आदि के सभी बौद्ध-बिहार मुसलमान आक्रमणकारियों द्वारा नष्ट कर दिए गए, और वहाँ के भिक्षुओं को भागकर नेपाल में शरण लेनी पड़ी। उस समय भारत में महायान का प्राबल्य था। जब ये भारतीय भिक्षु नेपाल पहुँचे, तब वहाँ वज्रयान और सहजयान ने भी बड़ा ज़ोर पकड़ा। उस समय अनेक तंत्र-मंत्र के ग्रंथों की रचनाएँ हुईं।

इधर ख़ास नेपाल में नए-नए भिक्षुओं के आने-जाने से सदा-नवीनता का भान होता रहा। नेपाल के बौद्ध उनका सम्मान करने में नहीं चूकते थे। उधर पश्चिमी नेपाल में ग्यारहवीं शताब्दी के प्रारंभ से बौद्ध-धर्म की पर्याप्त उन्नति होती चली आ रही थी। उत्तर-काशी में मिली बुद्ध-मूर्ति कभी नेपाल-राज्यांतर्गत थी, जिसका निर्माण ग्यारहवीं शताब्दी के प्रथम पाद में हुआ था। बदरीनाथ का प्रसिद्ध

मंदिर, जिसे आज तक हिंदू लोग अपना देवालय समझते हैं, एक प्रसिद्ध बौद्ध-तीर्थ था, जिसे उन्हीं दिनों भोट-देशवासियों ने निर्मित कराया था।

जयस्थितिमल्ल (सन् १३८६-१३६२ ई०) के समय से नेपाल के बौद्ध-धर्म को बड़ी ठेस लगी, और तभी से उसका ह्रास होना प्रारंभ हुआ। जयस्थितिमल्ल बौद्ध-विरोधी राजा था, उसने बौद्धों पर अनेक अत्याचार किए। उनमें से कुछ नीचे दिए जाते हैं—

(१) भिक्षुओं के विहार और मंदिर अपने अधिकार में कर लिए। देवोत्तर संपत्ति राजकीय कोष समझी जाने लगी; कोई भी व्यक्ति उसके विरुद्ध नहीं कर सकता था।

(२) जीवन-पर्यंत के लिये भिक्षु बनना बंद कर दिया। जो कोई भिक्षु बनना चाहता, वह केवल चार दिन भिक्षुपद का निर्वाह कर सकता था।

(३) भिक्षुओं की एक अलग जाति ही बना दी गई, और उन्हें सोने का काम दिया गया। आज भी नेपाल में सभी शाक्य भिक्षु यही काम करते हैं।

(४) बौद्ध-धर्म, जो जातिवाद नहीं मानता था, जातिवाद मानने के लिये बाध्य किया गया। भरपूर कोशिश करके सारे नेपाल में चार वर्णों और छत्तीस जातियों की मर्यादा स्थापित की गई।

जयस्थितिमल्ल के समय से लेकर आज तक नेपाल का बौद्ध-धर्म शिथिल ही होता आ रहा है। बौद्ध राजाओं के अभाव से बौद्धों की सब प्रकार से दुर्दशा ही होती रही है।

इस समय नेपाल में चालीस लाख से भी अधिक बौद्धों की संख्या है। नेवारी, तामंग, शेरप, गुरुङ आदि जातियाँ बौद्ध हैं। मगर, गयलिंगू लोग भी पूर्व में बौद्ध ही थे। इनकी शाखाएँ-प्रशाखाएँ भी

अंशुवर्मन के समय में भारतीय पंडित कुमार नेपाल होते हुए ही तिब्बत गए थे। भिक्षु शीलमंजु ने नेपाल से ही तिब्बत आकर अनेक संस्कृत-ग्रंथों का तिब्बती में भाषांतर किया था, और संभवतः वह पंडित कुमार के साथ रानी भृकुटी के निमंत्रण पर वहाँ पधारे थे। तिब्बत में बौद्ध-धर्म के प्रचार में नेपाल का बहुत बड़ा हाथ रहा।

अंशुवर्मन की मृत्यु के थोड़े ही दिनों बाद चीनी भिक्षु ह्यूआन्-चुआङ् नेपाल गए। उन्होंने यद्यपि नेपाल का बहुत संक्षिप्त वर्णन लिखा है, तथापि उससे बहुत-सी ज्ञातव्य बातों का ज्ञान होता है। उन्होंने लिखा है—"... ..अन्य मतावलंबी और बौद्ध मिले-जुले निवास करते हैं, तथा इन लोगों के संघाराम और देव-मंदिर पास-पास बने हुए हैं। कोई २,००० भिक्षु हीनयान और महायान के अनुयायी हैं। राजा क्षत्रिय तथा लिच्छवि-वंश का है। इसका अंतःकरण स्वच्छ तथा आचरण शुद्ध और सात्त्विक है। बौद्ध-धर्म से इसे बहुत प्रेम है।"

इससे नेपाल के तत्कालीन बौद्ध-धर्म का संक्षेप में परिचय मिल जाता है। स्पष्ट है कि सातवीं शताब्दी के मध्य भाग में नेपाल में स्थविरवाद तथा महायान, दोनो प्रकार के भिक्षु थे, और उनकी संख्या अपेक्षाकृत कम थी। शैव और शाक्त मतावलंबियों का भी प्रवेश था, किंतु वे बौद्धों के साथ हिल-मिलकर रहते थे। कभी उनके प्रति बुरी भावनाएँ नहीं उत्पन्न होती थीं। नेपाल के शासक लिच्छवि-वंशज बौद्ध-धर्मानुरागी थे। नेपाल में बहुत-से भिक्षु-विहार और संघाराम बने थे, जिनमें दोनो प्रकार के भिक्षु रहते थे।

नवीं शताब्दी में नेपाल में गुणकामदेव-नामक एक धार्मिक राजा राज्य कर रहा था। उसके समय में नेपाल में बौद्ध-धर्म की पुनः जाग्रति हुई थी। उसी समय भारत के गौडदेश का राजा प्रचंडदेव भिक्षु होकर नेपाल में वास करता था, जिसका भिक्षु-नाम शांतिकर

वज्राचार्य था। उसी ने स्वयंभू-चैत्य का निर्माण कराया था, ऐसा स्वयंभू पुराण में वर्णित है। किंतु भले प्रकार नेपाल और तिब्बत के इतिहास-ग्रंथ तथा स्वयंभू पुराण के अध्ययन से विदित होता है कि शांतिकर आचार्य कोई दूसरे नहीं, वरन आचार्य शांतरक्षित (७५०-८४० ई०) का ही नाम है, जो अज्ञानतावश स्वयंभू पुराण के लेखक ने 'शांतरक्षित' का 'शांतिकर' कर दिया।

तिब्बती इतिहास से हम जानते हैं कि आचार्य शांतरक्षित का जन्म गौड़ देश में हुआ था। वह अपने समय के नालंदा-विश्वविद्यालय के प्रख्यात बौद्ध विद्वान् थे। इन्होंने अनेक ग्रंथ लिखे थे, जिनमें से निम्न-लिखित भोट-भाषा में अब भी मिलते हैं—

(१) सत्यद्वयविभंगपंजिका (टीका)
(२) मध्यमकालंकार-कारिका (,,)
(३) मध्यमकालंकार-वृत्ति (,,)
(४) बोधिसत्त्वसंवरविंशिका-वृत्ति (,,)
(५) तत्त्व-संग्रह-कारिका* (मौलिक)
(६) वादन्यायविपंचितार्थ (टीका)
(७) ज्ञान-सिद्धि (मौलिक)

इनमें से केवल तत्त्व-संग्रह-कारिका और ज्ञान-सिद्धि के ही मूल संस्कृत-ग्रंथों में प्राप्त हुए हैं।

यद्यपि आचार्य शांतरक्षित ने विशेष रूप से तिब्बत में धर्म का प्रचार किया था, किंतु उन्हें नेपाल से बड़ा प्रेम था। उन्होंने नेपाल में अपने बहुत दिन व्यतीत किए थे। यों तो उन दिनों सभी भारतीय नेपाल होकर ही तिब्बत जाते थे, और नेपाल की

---

* यह ग्रंथ गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज़ (बड़ौदा) से प्रकाशित हो चुका है।

जनता द्वारा उनका पूरा आदर-सत्कार होता था, किंतु आचार्य शांत-रक्षित पहले तिब्बत जाने के लिये नहीं, प्रत्युत नेपाल में बौद्ध-धर्म के पुनरुत्थान-हेतु भारत आए थे। उन्होंने नेपाल में बहुत दिनों तक रहकर अपने गूढ़ ज्ञान का उपदेश दिया था। नेपालवासी आचार्य को बहुत मानते थे। आचार्य की भी उन पर विशेष कृपा थी। आचार्य ने नेपाल को अपना धर्म-क्षेत्र समझकर वहाँ वास किया था, और स्वयंभू-जैसे महान् चैत्य का निर्माण-कार्य आरंभ कराया था। राजा गुणकामदेव ने उनका पूर्ण रूप से सम्मान किया था। वह विद्वान् और योगी होने से नेपालवासियों के श्रद्धा-भाजन बन गए थे।

आचार्य को नेपाल गए अभी बहुत दिन नहीं हुए थे कि तिब्बत के सम्राट् ख्रि-स्रोङ् ल्दे ब्चन (ठि-सोङ्-देचन्) ने आचार्य को अपने यहाँ बुलाने के लिये ज्ञानेंद्र को भारत भेजा। वह महाबोधि बुद्ध-गया के दर्शन के बाद नालंदा पहुँचा, किंतु उसके नालंदा पहुँचने से पूर्व ही आचार्य नेपाल चले गए थे, अतः उसने नेपाल के लिये प्रस्थान किया। जब नेपाल पहुँचा, तब वह उनका दर्शन कर फूला न समाया, और अपने सम्राट् का संदेश कह सुनाया। उन्होंने उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली।

आचार्य सत्कार-पूर्वक तिब्बत गए, किंतु कई एक कारणों से कुछ ही दिनों में पुनः नेपाल लौट आए, और वहाँ दो वर्ष रहकर धार्मिक कार्यों में समय व्यतीत किया।

दो वर्ष पश्चात् ज्ञानेंद्र फिर आचार्य के पास आया, और बहुत आग्रह करके उन्हें पुनः तिब्बत ले गया। भोट देश के ऐतिहासिकों का कहना है कि आचार्य ने इस बार राजा से उड़ीसा के राज-वंशोत्पन्न आचार्य पद्मसंभव को बुलाने को कहा। यह भी कहते हैं कि पद्मसंभव ने मंत्र-बल से भोट के सभी देवी-देवता, डाकिनी, योगिनी, खसीनी, यक्षिणी, भूत, प्रेत, बैताल आदि को परास्त

करके उन्हें बौद्ध-धर्म का सहायक होने के लिये प्रतिज्ञाबद्ध कराया।

आचार्य शांतरक्षित तिब्बत जाकर संस्कृत-भाषा में उपदेश करते थे, उसका अनुवाद कश्मीरी पंडित अनंत करते थे। पंडित अनंत तिब्बत में बहुत दिनों से थे। उन्हें तिब्बती का पूरा अभ्यास था। यह नेपाल होते हुए ही तिब्बत गए थे।

सौ वर्ष की अवस्था में, तिब्बत में ही घोड़े के पैर से चोट लग जाने से, ८०० ई० में, आचार्य का देहांत हो गया। उनकी धातुएँ आज भी वहाँ एक प्रधान मंदिर में शीशे के भीतर रक्खी हैं, जो पहले एक चैत्य में निधान करके रक्खी गई थीं।

आचार्य शांतरक्षित के समय में नेपाल में बौद्ध-धर्म को जो प्रोत्साहन मिला, उसी का प्रताप है कि आज नेपाल चैत्यों और विहारों का देश बना है।

आचार्य शांतरक्षित के पश्चात् सभी कश्मीरी तथा नालंदीय विद्वान् भिक्षु नेपाल होकर ही तिब्बत गए। उन्होंने नेपाल में अपने पांडित्य का प्रदर्शन अवश्य किया होगा। भिक्षुओं का उपदेश करना एक बहुत बड़ा कर्तव्य है, अतः उन्होंने नेपाली बौद्धों को सदा अपने उपदेश दिए होंगे। उन धर्म-प्रचारक भिक्षुओं में कमलशील, दीपंकर श्रीज्ञान (अतिशा) आदि उल्लेखनीय हैं। तिब्बत जाते समय जब दीपंकर श्रीज्ञान अपनी मंडली के साथ नेपाल पहुँचे, तब नेपाल के तत्कालीन राजा ने उनको सम्मान के साथ अपना अतिथि बनाया। उसने उनसे नेपाल में रहने के लिये बहुत आग्रह किया। उसके आग्रह के कारण दीपंकर श्रीज्ञान ने एक वर्ष नेपाल में व्यतीत किया, और वहाँ अनेक धार्मिक कार्य किए। उस समय नेपाल में पुनः बौद्ध-धर्म की प्रभुता ऐसी फैली कि नेपाल-राजवंश का एक राजकुमार भी उनके पास आकर भिक्षु बन

गया। वहीं से उन्होंने गौड़ेश्वर महाराज नेपाल को एक पत्र लिखा, जिसका अनुवाद आज भी तंज्यूर में वर्तमान है।

तेरहवीं शताब्दी के प्रारंभ में जब भारत के बौद्ध-केंद्रों—नालंदा, विक्रमशिला, उडंतपुरी—का ध्वंस हो गया, तब विक्रमशिला के प्रधान विद्वान् और अन्तिम बौद्ध-संघराज शाक्य श्रीभद्र (सन् १२०५ में) शरणार्थी के रूप में भारत से नेपाल गए। वह कश्मीर के रहनेवाले थे, किंतु कश्मीर न जाकर उन्होंने उत्तर पर्वतीय प्रदेशों में ही जाना उचित समझा, क्योंकि भारत में मुहम्मद बिनबख्तियार खिलजी का ध्वंसकारी कार्य जारी था। वह नेपाली भिक्षु संघश्री की प्रार्थना से विभूतिचंद्र, दानशील, सुगतश्री आदि आठ पंडितों के साथ नेपाल गए, और वहाँ कुछ दिनों तक रहे। वहाँ से तिब्बत गए, और सन् १२१३ ई० में नेपाल होते हुए अपनी जन्म-भूमि कश्मीर को लौटे।

तेरहवीं शताब्दी के प्रारंभ में पावा, कुशीनगर, देवदह, लुंबिनी, कपिलवस्तु, श्रावस्ती आदि के सभी बौद्ध-विहार मुसलमान आक्रमणकारियों द्वारा नष्ट कर दिए गए, और वहाँ के भिक्षुओं को भागकर नेपाल में शरण लेनी पड़ी। उस समय भारत में महायान का प्राबल्य था। जब ये भारतीय भिक्षु नेपाल पहुँचे, तब वहाँ वज्रयान और सहजयान ने भी बड़ा ज़ोर पकड़ा। उस समय अनेक तंत्र-मंत्र के ग्रंथों की रचनाएँ हुईं।

इधर खास नेपाल में नए-नए भिक्षुओं के आने-जाने से सदा-नवीनता का मान होता रहा। नेपाल के बौद्ध उनका सम्मान करने में नहीं चूकते थे। उधर पश्चिमी नेपाल में ग्यारहवीं शताब्दी के प्रारंभ से बौद्ध-धर्म की पर्याप्त उन्नति होती चली आ रही थी। उत्तर-काशी में मिली बुद्ध-मूर्ति कभी नेपाल-राज्यांतर्गत थी, जिसका निर्माण ग्यारहवीं शताब्दी के प्रथम पाद में हुआ था। बदरीनाथ का प्रसिद्ध

मंदिर, जिसे आज तक हिंदू लोग अपना देवालय समझते हैं, एक प्रसिद्ध बौद्ध-तीर्थ था, जिसे उन्हीं दिनों भोट-देशवासियों ने निर्मित कराया था।

जयस्थितिमल्ल (सन् १३८६-१३६९ ई०) के समय से नेपाल के बौद्ध-धर्म को बड़ी ठेस लगी, और तभी से उसका ह्रास होना प्रारंभ हुआ। जयस्थितिमल्ल बौद्ध-विरोधी राजा था, उसने बौद्धों पर अनेक अत्याचार किए। उनमें से कुछ नीचे दिए जाते हैं—

(१) भिक्षुओं के विहार और मंदिर अपने अधिकार में कर लिए। देवोत्तर संपत्ति राजकीय कोष समझी जाने लगी। कोई भी व्यक्ति उसके विरुद्ध नहीं कर सकता था।

(२) जीवन-पर्यंत के लिये भिक्षु बनना बंद कर दिया। जो कोई भिक्षु बनना चाहता, वह केवल चार दिन भिक्षुचर्या का निर्वाह कर सकता था।

(३) भिक्षुओं की एक अलग जाति ही बना दी गई, और उन्हें सोने का काम दिया गया। आज भी नेपाल में सभी शाक्य भिक्षु यही काम करते हैं।

(४) बौद्ध-धर्म, जो जातिवाद नहीं मानता था, जातिवाद मानने के लिये बाध्य किया गया। भरपूर कोशिश करके सारे नेपाल में चार वर्णों और छत्तीस जातियों की मर्यादा स्थापित की गई।

जयस्थितिमल्ल के समय से लेकर आज तक नेपाल का बौद्ध-धर्म शिथिल ही होता आ रहा है। बौद्ध राजाओं के अभाव में बौद्धों की सब प्रकार से दुर्दशा ही होती रही है।

इस समय नेपाल में चालीस लाख से भी अधिक बौद्धों की संख्या है। नेवारी, तामंग, स्यरप, गुरुङ आदि जातियाँ बौद्ध हैं। मगर, रायलिंबू लोग भी पूर्व में बौद्ध ही थे। इनकी शाखाएँ-प्रशाखाएँ भी

बौद्ध थीं। यद्यपि आजकल नेपाल का बौद्ध-धर्म बहुत विकृत हो चुका है, तथापि नेपाल के चैत्य और विहारों को देखकर ऐसा जान पड़ता है कि यह चैत्यों का देश है। जिधर देखो, उधर ही चैत्यों की भरमार है। मार्ग चलते समय सदा उन्हें दाहने हाथ करके जाना पड़ता है; संप्रति इन चैत्यों की मरम्मत करने के लिये बौद्धों के पास पैसे नहीं हैं। जो देवोत्तर संपत्ति थी, वह राजा द्वारा हड़प ली गई, किंतु जीर्ण-शीर्ण दशा में भी ये अपने अतीत की याद दिलाते हुए खड़े हैं।

नेपाल में जब से वज्रयान, तंत्रयान आदि का प्राबल्य हुआ, और जयस्थितिमल्ल के समय में जब भिक्षुओं तथा बौद्ध गृहस्थों को सताया गया, तब से यहाँ के भिक्षु घरबारी हो गए, और घर-गृहस्थी का जीवन व्यतीत करने लगे। संप्रति शाक्य भिक्षुओं की दशा बहुत चिंतनीय है। ये समयानुसार प्रव्रजित होते हैं। इन्हें प्रव्रजित करने के लिये वज्राचार्य (जो गृहस्थ होते हैं) आते हैं। पाटन, काठमाडू आदि नगरों में बहाल (विहार) बने हुए हैं। इन्हीं बहालों में इनकी प्रव्रज्या होती है। वज्राचार्य इन्हें अष्टपरिष्कार के साथ श्रामणेरशील देते हैं। ये प्रव्रजित होकर सात घरों में भिक्षाटन करते हैं। चार दिन बाद चीवर छोड़कर गृहस्थ हो जाते हैं। ये अपने गृहस्थ गुरु वज्राचार्य के पास जाकर ही चीवर छोड़ते हैं। उस समय ये कहते हैं—"इस भिक्षुचर्या का पालन करना कठिन है, अतः मैं गृहस्थ-धर्म का पालन करूँगा।"

शाक्य-भिक्षु-जाति का कोई भी व्यक्ति बिना प्रव्रजित हुए किसी शुभ कार्य में सम्मिलित नहीं हो सकता। प्रव्रजित न होकर यदि वह विवाह करता है, तो जिस जाति की स्त्री के साथ विवाह होता है, वह उसी जाति का हो जाता है। और, यदि विवाह के पश्चात् उस स्त्री के हाथ का भोजन नहीं ग्रहण करता, तो शाक्य-भिक्षु ही रहता

है। प्रायः विवाह शाक्य-भिक्षु-वंशजों में ही होता है। विवाह-संबंध वज्राचार्यों के साथ भी होता है। शाक्य-भिक्षु और वज्राचार्यों में केवल इतना ही अंतर है कि शाक्य-भिक्षु पुरोहिती नहीं करते, और वज्राचार्य प्रव्रज्या के पश्चात् आचार्याभिषेक ग्रहण करके वज्राचार्य होकर पुरोहिती करते हैं। ये लोग मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा, मैथुन इन पाँच मकारों का सेवन करते हैं। इन्होंने ऐसे मंत्रों की कल्पना भी कर ली है, जिनके पढ़ने-मात्र से पाप दूर हो जाते हैं। इस सुरा-शोधन-मंत्र का इसमें कुछ प्रचार है—

"ॐकारं हरते वर्णं, हूँकारं गंधनाशनम् ;
ह्रींकारं वीर्यहंता च, अमृताकारं भावये ;"

शाक्य-भिक्षुओं में जो महास्थविर होते हैं, उन्हें 'थैपाजू' की उपाधि दी जाती है। ये ही एक प्रकार से संघ-नायक होते हैं। 'थैपाजू' होने के लिये इन्हें बहुत धन भी व्यय करना पड़ता है।

हिंदुओं की भाँति यद्यपि नेपाल के बौद्धों में जाति-भेद नहीं है, फिर भी ये तीन श्रेणियों में बँटे हुए हैं—(१) बाँड़ा, (२) उदाय और (३) ज्यापू। बाँड़ा समाज में श्रेष्ठ माने जाते हैं। इनमें भी नव श्रेणियाँ हैं, जिनमें गुभाजू (गुह्यवादी) पुरोहिती करते हैं; इन्हें वज्राचार्य भी कहते हैं। उदाय लोग वाणिज्य-व्यवसाय करते हैं, और ज्यापू खेती तथा गृहस्थी के कार्य।

नेपाल के बौद्धों का सामाजिक कार्य 'गुठी' (समिति) के विधान के अनुसार होता है। कोई विशेष बात आ पड़ने पर बौद्धों को भी हिंदू राजगुरु के पास जाना पड़ता है, और वह हिंदू-शास्त्र के अनुसार फ़ैसला करता है। फ़ैसले में वह धन-दंड, कारावास, प्राण-दंड आदि में से जो चाहे, दे सकता। राजगुरु बौद्धों को दंड देते समय बौद्ध शास्त्रों का विचार नहीं करता। राजगुरु ने बौद्धों को इस तरह जकड़ रक्खा है कि वे उसके भय से अपना सिर भी कभी नहीं उठा

सकते। इसी राजगुरु के प्रताप से सन् ४४ में नेपाल देशीय भिक्षुओं को राज्य से निर्वासित होना पड़ा था।

आजकल नेपाल के बौद्ध-धर्म में एक नई जागृति दीख रही है। मत पूछो, लगभग बीस वर्ष पूर्व नेपालवासी यह भी नहीं जानते थे कि भिक्षु किसे कहते हैं? नेवारी-भाषा में भिक्षु के लिये 'भ्रु' शब्द वर्तमान था, जिसका अर्थ नृहा भी होता है। लोग नृहों को तो देखते थे, परंतु भिक्षु दृष्टिगोचर न होते थे। उन्हीं दिनों छिरी नगभू-नामक एक तिब्बती लामा नेपाल आए। उन्होंने पाँच तरुणों को प्रव्रजित किया, किंतु राणा ने उन्हें बौद्ध भिक्षु होने के अपराध में देश से निर्वासित कर दिया। उन पाँच तरुणों में एक महाप्रज्ञा भी थे, जो पीछे हमारे गुरुवर के पास कुशीनगर आकर भिक्षु हो गए, और कालिंपोंग में प्रज्ञा-चैत्य-महाविहार का निर्माण करके धर्म का प्रचार करने लगे। किंतु नेपाल से बाहर होने के कारण उनका नेपाली बौद्धों पर पर्याप्त प्रभाव नहीं पड़ा।

कुछ दिनों बाद दशरत्न-नामक एक तरुण गृहस्थ यात्रा के हेतु कुशीनगर आए। वह काठमाडू के असन्टोल के रहनेवाले एक महा-संपत्तिशाली व्यापारी थे। उनका व्यापार तिब्बत और भारत में होता था। वह पूँजीपति होते हुए भी पूँजीपतियों के भाव-विचारों से घृणा करने लगे थे। उन्हें राग, द्वेष, मोह में लिप्त देखकर उद्विग्न हो जाया करते थे। अतः वह अपने दोनों पुत्रों को लंका भेजकर स्वयं सन् १९३० ई० में भारतीय संघ-नायक पूज्यपाद गुरुवर श्रीचंद्रमणि महा-स्थविर से प्रभावित होकर कुशीनगर में प्रव्रजित हो गए। तब से उनका नाम भिक्षु धम्मालोक हुआ।

भिक्षु धम्मालोक छ महीने बाद नेपाल लौटे। कई शताब्दियों के बाद यहाँ सर्वप्रथम स्थविरवादी भिक्षु थे, जिन्होंने सन् १९३० में नेपाल में प्रवेश किया। राजकर्मचारियों ने इस अद्भुत वेषधारी भिक्षु को
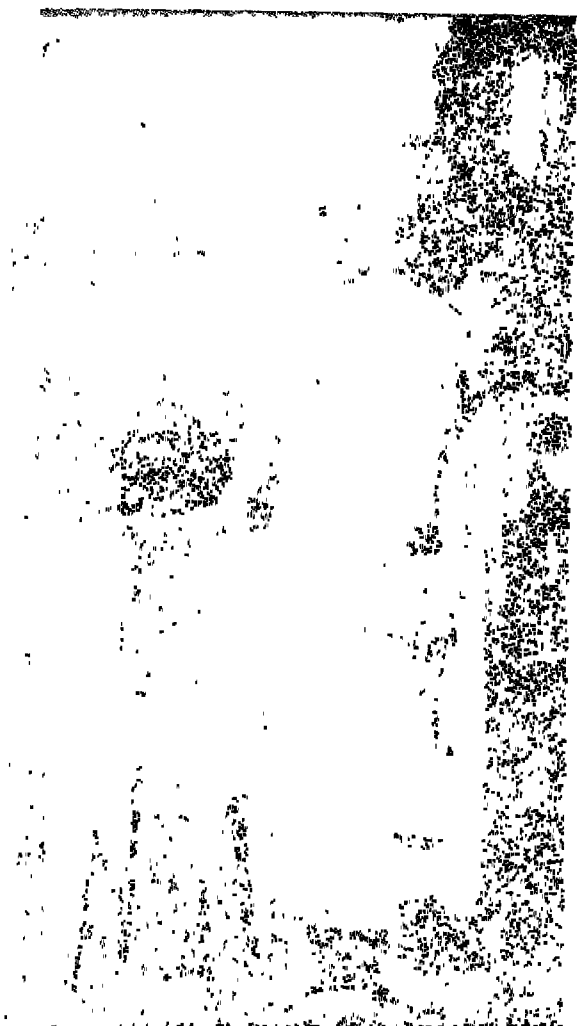
भदंत धम्मालोक स्थविर

एक सप्ताह तक कारागार का अतिथि बना रक्खा। उन्होंने महायानी भिक्षुओं के चीवर आदि का दर्शन किया था, किंतु स्थविरवादी भिक्षु का चीवर-पात्र आदि तो उनके लिये कौतुक की वस्तु थी। आठवें दिन उनकी पेशी युद्धशमशेर राणा जंगबहादुर के सामने हुई, और बल दिया गया कि 'यह भिक्षु देश-निर्वासित कर दिया जाय,' किंतु राणा ऐसा करना उचित नहीं समझते थे। उन्होंने कर्मचारियों से कहा—"भिक्षु होने से हमारी राजनीति में कोई हानि नहीं होती, जो भी चाहे, भिक्षु हो सकता है।"

राणा की इस बात को सुनकर उन्हें विशेष प्रसन्नता हुई, और अब वह स्वतंत्र होकर भिक्षाटन करने लगे। नेपालवासियों के लिये वह तमाशा बनने लगे। रातोदिन बौद्ध उपासक-उपासिकाएँ अपने चिर-वियुक्त 'गुरु' को देखकर फूली न समातीं। उन्होंने किंडोल बहाल (विहार) में रहना प्रारंभ किया, और स्थविरवाद बौद्ध-धर्म का प्रचार-कार्य होने लगा।

सन् १९३४ में, सारनाथ में, पूज्यपाद महास्थविरजी के उपाध्यायत्व में, उनको उपसंपदा हुई। इनके बाद उन्होंने बर्मा, अराकान और भारत के विभिन्न प्रदेशों की यात्राएँ कीं। उससे पूर्व वह लंका और चीन जा चुके थे। तिब्बत में तो उनकी दूकान ही थी।

भिक्षु धम्मालोकजी का जन्म १८९० ई० में हुआ था। इस समय वह धर्म-कार्य में जुटे हुए बुद्ध-शासन का प्रचार कर रहे हैं। उन्होंने अनेक ग्रंथ नेवारी-भाषा में लिखे, और भारत आकर उन्हें छपाया, जिससे नेपाल में बौद्ध-धर्म की नव जागृति हो चली। पूज्य आचंद्रमणि महास्थविर की सदा उन पर कृपा बनी रही। जो-जो तरुण भिक्षु होना चाहते थे, या जो-जो उपासिकाएँ अनागारिका, वे सब कुशीनगर आईं और प्रव्रजित होकर नेपाल लौटीं। नेपाल में, इस बीसवीं सदी में, जो स्थविरवाद बौद्ध-धर्म का प्रचार हुआ है,

उनके आदि संचालक भिक्षु धम्मालोकजी हैं, और उनके पृष्ठिकता हैं हमारे चन्द्रमणि महास्थविरजी। नेपाल में जो कोई धार्मिक कार्य हुआ, वह सब महास्थविरजी के परामर्श से ही हुआ। महास्थविरजी ही तो नेपाल में बौद्ध-धर्म के पुनरुद्धारक हैं। नेपाली सभी अनागारिकाएँ, भिक्षु तथा श्रामणेर उन्हीं के शिष्य हैं।

महास्थविरजी ने, सन १९४८ की शिवरात्रि में, स्वयं नेपाल जाकर, सर्वत्र घूम-घूमकर उपदेश दिया, और नेपाल के अपने शिष्यों को बौद्ध धर्म के उत्थान के लिये नाना प्रकार के साधनों का दिग्दर्शन कराया।

महास्थविरजी नेपाल से लौटकर कुशीनगर आए, और भिक्षु धम्मालोकजी नव-निर्मित विहार (आनंदकुटी) के लिये मूर्ति लेने कुशीनगर पधारे, उसी बीच नेपाल-सरकार ने भिक्षुओं पर झूठा दोषारोपण करके उन्हें देश से निकाल दिया। किंतु फिर थोड़े ही दिनों में उसे अपनी वह आज्ञा वापस लेनी पड़ी, क्योंकि अनेक बौद्ध-देशों से उस कार्य का विरोध होना प्रारंभ हो गया था। भारत, बर्मा, लंका, श्याम आदि देशों में नेपाल सरकार के विरुद्ध अनेक सामूहिक सभाएँ हुई थीं। लंका में उस समय लेखक ने भी, कोलंबो की 'सबका बौद्ध-समिति' के सभा-भवन में, नेपाली भिक्षुओं के निर्दोष होने और नेपाल देशीय शासकों के अन्याय-पूर्ण कार्य का वर्णन किया था।

उस समय सभी भिक्षु आश्रय-विहीन होकर कुशीनगर आए थे, और पूज्यपाद गुरुवर की छत्रच्छाया में रहकर वर्षावास व्यतीत किया था। वहाँ उस घटना की स्मृति में उन्होंने एक नेपाली धर्मशाला का भी निर्माण करना प्रारंभ कर दिया था, किंतु किसी कुटिल के कुत्सित प्रयत्न से उनकी वह महान् भावना जाती रही।

इस समय नेपाल में भिक्षुओं की संख्या अठारह है। अना-गारिकाएँ भी लगभग इतनी ही हैं। भिक्षुओं के आनन्दकुटी (काठमाडू), धर्ममंगल-विहार (पाटन), प्रणिधि-महाविहार (वल्खु), शाक्य मुनि तथा सरस्वती-विहार (भोजपुर), बुद्ध-विहार (बुटौल), आनंद-विहार (तानसेन) आदि कई विहार हैं। अब नागू बाहाल ([illegible]) और भातगाँव में भी विहार बन रहे हैं। पनौती और बनेपा में पुरातन विहार हैं ही। अनागारिकाओं के भी किंडोल-विहार (काठमाडू), बुद्ध-विहार और आनंद-भवन (पोखरा) आदि अनेक विहार हैं।

सन् १९४४ में धर्मोदय नाम की एक सभा की भी स्थापना हुई, जिसके प्रधान सभापति पूज्य महास्थविरजी ही हैं। इस सभा द्वारा 'धर्मोदय'-नामक नेवारी-भाषा में एक मासिक पत्र भी निकाला जा रहा है। इससे नेपाल के बौद्धों में संगठन और सुधार होता दीख रहा है।

यदि नेपालवासी भिक्षु-संघ अपने पूज्य गुरुवर के सत्परामर्श से सदा धार्मिक कार्यों को करता रहेगा, और संगठन, प्रेम तथा उत्साह से धर्म के प्रचार एवं सुधार में संलग्न रहेगा, तो थोड़े ही दिनों में नेपाल के सभी वज्रयानी, महायानी तथा तंत्रयानी बौद्ध स्थविरवाद को ही बौद्ध-धर्म जानकर अपनी परंपरा से चली आती हुई कुरीतियों का त्याग देंगे, और स्थविरवाद के प्रचार में सहयोग देंगे।

नेपाल का बाह्य देशों से संबंध

यद्यपि नेपाल चारों ओर से दुर्गम पर्वत-शृंखलाओं से घिरा हुआ है, तथापि बाह्य देशों के साथ इसका प्रगाढ़ संबंध है। भारत, लंका, सिक्किम, कांगड़ा, कनौर, तिब्बत और चीन के साथ सदा से आर्थिक, राजनीतिक, भौगोलिक और सांस्कृतिक संबंध चला आ रहा है।

भारत

जैसा कि बतलाया गया है, भारत और नेपाल का संबंध बहुत प्राचीन है। प्रागैतिहासिक काल से लेकर आज तक नेपाल भारत के साथ विचारों को अपनाता रहा है। अशोक-काल में दोनों देशों में जो परस्पर मैत्री की सांस्कृतिक और धार्मिक कड़ी जुटी, वह कभी नेपाल के जीवन से नहीं निकाली जा सकती। उस समय नेपाल भारत का ही एक अंग था, और पीछे बहुत दिनों तक अंग बना रहा। गुप्त-काल में नेपाल की लिच्छवि-राजकन्या कुमारदेवी से विवाह कर सम्राट् चंद्रगुप्त प्रथम (सन् ३२०-३३५) गर्व करता था। हर्ष-काल में यद्यपि नेपाल तिब्बत के अधीन था, फिर भी भारत-सम्राट् की प्रभुता से वह वंचित न था। दोनों बौद्ध नरेशों में परस्पर प्रगाढ़ मित्रता थी।

जिन दिनों भारत के सभी बौद्ध-केंद्र मुसलमानों द्वारा नष्ट किए जाने लगे, उन दिनों भारत के बौद्धों ने नेपाल में जाकर शरण ली थी। नालंदा, विक्रमशिला, उड़ंतपुरी, जत्तला, कुशीनगर, श्रावस्ती के बौद्ध-विहारों और विद्यालयों से लाखों की संख्या में भागे हुए भिक्षु नेपाल गए थे। मुसलमानी काल में भारत से भागे हुए राज-

वंशों ने भी नेपाल में शरण ली थी। सन् १८५८ की राज्य-क्रांति के समय लखनऊ की बेगम और उसका पुत्र बिरजिसकदर, नाना साहब, बालाराव, मम्मूखाँ, बेनीमाधव आदि प्रधान क्रांतिकारी नेताओं ने नेपाल में आकर क्रांतिकारियों से अपनी रक्षा की थी। सन् १८६० में नाना साहब की स्त्री ने भी नेपाल में आकर आश्रय पाया था। सन् १८७५ तक लखनऊ की बेगम नेपाल में शासकों के निकट रही थी।

सनातनी हिंदू नेपाल को अपना महातीर्थ-स्थान मानते हैं, और प्रतिवर्ष हजारों की संख्या में पशुपतिनाथ को जल चढ़ाने के लिये वहाँ आते हैं। त्रिवेणी, मुक्तिनाथ, गोसाँईथान, दामोदर-कुंड, लुंबिनी, कपिलवस्तु आदि हिंदू और बौद्धों के कई प्रमुख तीर्थ-स्थान नेपाल में ही हैं। लुंबिनी और कपिलवस्तु में आए हुए बाहर देशों के यात्रियों के लिये नेपाल-सरकार ने भोजन, आसन आदि की व्यवस्था करके लंका, बर्मा, चीन, जापान, स्याम आदि बौद्ध-देशों से अपनी घनिष्ठता बढ़ानी प्रारंभ कर दी है। बौद्ध-राष्ट्रों के साथ मैत्री स्थापित करने के लिये नेपाल-सरकार के ये प्रधान कार्य हैं। यदि नेपाल-सरकार इसकी ओर पूर्ण रूप से ध्यान दे, तो निकट भविष्य में ही वह सब राष्ट्रों के सम्मान का भाजन बन सकता है।

भारत के साथ राजनीतिक संबंध के विषय में बहुत कुछ कहा जा चुका है। नेपाल भारत का एक अभिन्न मित्र है। जहाँ नेपाल को अपनी स्वतंत्रता का गर्व है, वहाँ भारत को अपने स्वतंत्र पड़ोसी का पूर्ण सहयोग प्राप्त है। हाल ही में कश्मीर के युद्ध में सैनिक सहायता देने की घोषणा करके वर्तमान राणा मोहनशमशेर जंगबहादुर ने नेपाल की सद्भावना तथा मित्रता का परिचय दिया था। विगत दोनों महायुद्धों में भी नेपाली सैनिकों ने पर्याप्त सहायता पहुँचाई थी।

अब भारत के स्वतंत्र होने के बाद से नेपाल तथा भारत के संबंध

में एक नए युग का आरंभ हुआ है। सरदार सुरजीतसिंह मजीठिया काठमाडू में भारतीय राजदूत नियुक्त हैं; नेपाल ने भी सद्भावना-मंडल भेजकर मित्रता का परिचय दिया है। हमें पूर्ण आशा है कि भविष्य में यह मैत्री और भी दृढ़ होगी और दोनों देश एक दूसरे के सहयोगी होकर उन्नति के पथ पर अग्रसर होंगे।

भूटान और शिकिम

नेपाल के ठीक पूरब सटा हुआ सिक्किम है, और उसके पूरब भूटान। सिक्किम में नेपाली लोगों की संख्या बहुत अधिक है, विशेषकर नेवार-जाति के लोग वहाँ रहते हैं। इस प्रकार से वह नेपाल से ही मिला जाता है, अतः सिक्किम-निवासियों का नेपाल में सदा आना-जाना लगा रहता है। उसी के निचले छोर में दार्जिलिंग—तिब्बतियों का दोर्जेलिंग या वज्र-द्वीप—है, जिसका नेपाल के साथ बड़ा घनिष्ठ संबंध है; वहाँ बहुत-से नेपाली व्यापारियों की दूकानें हैं। शिवरात्रि के दिनों में जिस प्रकार भारतवाले पशुपतिनाथ को जल चढ़ाने आते हैं, उसी प्रकार सिक्किम से भी बड़ी संख्या में लोग आते हैं। व्यापार के काम से तो सदा आना-जाना लगा ही रहता है।

भूटान के तिब्बती लोग जाड़े के दिनों में नेपाल के छोर्तेनरिंपोछे (चैत्यरत्न-खास्ति चैत्य) की पूजा करने आते हैं। उस समय वे बहुत-से सौदागरी माल भी अपने साथ लाते तथा ले जाते हैं। भूटान तिब्बत देशवासियों का ड्रुग-युल या बिजली का देश है। वह तिब्बत का ल्होखा अर्थात् दक्षिणी प्रान्त है, अतः जो भोटिया जाड़े के दिनों में भारत या नेपाल आते हैं, वे भूटान भी जाते हैं। नेपाली व्यापारियों का भूटान के साथ प्राचीन संबंध चला आ रहा है। भूटान की राजधानी पुनखा में नेपालियों की दूकानें भी हैं। गोरखा-जाति की भी कुछ बस्तियाँ हैं, किन्तु विरल ही।

काँगड़ा और कनौर

काँगड़ा तथा कनौर (किन्नर देश) का भी नेपाल के साथ पुराना संबंध रहा है। सन् १८०३ ई० में महाराज रणबहादुर राणा ने काँगड़ा तक के प्रदेश को अपने अधीन कर लिया था। क्युँठल और कुमाऊँ का प्रदेश तो पहले से गोरखा-साम्राज्य के अंतर्गत था। सन् १८१५ में गोरखा सेना जब अँगरेज़ों से युद्ध में हार गए, और सुगौली की संधि हुई, तब अँगरेज़ों ने काँगड़ा का राज्य पुनः राजा महेंद्रसिंह को सौंप दिया, और संधि के अनुसार उन्होंने नेपाल-सरकार से क्युँठल तथा कुमाऊँ का प्रदेश ले लिया। नैनीताल, शिमला आदि स्थान उसी समय अँगरेज़ों को प्राप्त हुए थे।

संप्रति काँगड़ा और कनौर (किन्नर), आदि के प्रदेश नेपाल से बहुत दूर पड़ते हैं, किंतु कनौर काँगड़ा, कुल्लू और लदाख तक के बौद्ध लामा और गृहस्थ जाड़े के दिनों में नेपाल के अपने चरुङ्-रुकशोर (खास्ति-चैत्य), फाक्फा सिङ्कुन (स्वयंभू-चैत्य) तथा तामेलुजिङ् (नमबुरा-चैत्य) का दर्शन करने आते हैं। मैंने पहले कहा है कि जाड़े में खास्ति-चैत्य के आस-पास की बस्ती भोट देश-सी जान पड़ती है। वहाँ काँगड़ा, कुल्लू आदि प्रदेशों से आए हुए तीर्थ-यात्री भी रहते हैं। वे आते समय अपने देश से अनेक प्रकार की चीजें बेचने के लिये लाते हैं, और नेपाल से बहुत-सी चीज़ें अपने यहाँ ले जाते हैं। उक्त देशों के बौद्ध नेपाल को अपना तीर्थ-स्थान समझते हैं। इस प्रकार पुराने समय से इन देशों का नेपाल के साथ घनिष्ठ संबंध चला आ रहा है।

क्युँठल और कुमाऊँ के प्रदेश तो एक प्रकार से नेपाल के ही अंग समझे जाते हैं। वहाँ पर्याप्त संख्या में नेपाली लोग रहते हैं। सदा नेपाल आना-जाना लगा रहता है। प्रतिवर्ष लाखों की संख्या में नेपाली लोग बदरीनाथ का दर्शन करने जाते हैं।

मार्ग में भी हिंसक जंतुओं का भय रहता है। सिंह, व्याघ्र, चोर और दुष्ट जनों से वह मार्ग भरा रहता है। उत्तुंग पर्वत-शृंखलाएँ लाँघनी पड़ती हैं। धूप-शीत सहनी पड़ती है, और तुम अभी बच्चे हो!'

किंतु उसे बाप की बात अच्छी न लगी। वह व्यापार के लिये, ४९९ साथियों के साथ, रत्नाकर नगर की ओर चल दिया। रत्नाकर सिंहकल्प (नेपाल) से उत्तर दिशा में है। वह अपने घोड़े आदि लेकर साथियों के साथ ब्रह्मपुत्र-नदी के किनारे पहुँचा। मार्ग में सर्वत्र छोटे-छोटे चैत्य बने थे, उन्हें वह अज्ञानता-वश तोड़ता गया। जब वह नाव में बैठकर ब्रह्मपुत्र में जा रहा था, तब उसके चैत्यों के तोड़ने के पाप से ऐसे वेग से वायु चली कि बीच धार में नाव उलट गई। उस समय सबको चिंतित देखकर सिंहसार्थबाहु ने समझाया—'यह घबराने का समय नहीं है। हम लोगों को त्रिरत्न का स्मरण करना चाहिए। बस, वही एक हमारा शरण है। त्रिरत्न का नाम लेते हुए नदी को तैरना चाहिए।''

सिंहसार्थबाहु की बात सुनकर सबने तैरना प्रारंभ कर दिया, और तरकर दूसरे तीर चंपक वृक्ष के पास पहुँचे। उस समय उन्हें देखते ही ताम्रद्वीप (तिब्बत) की यक्षिणियाँ परम सुंदरी का वेष धारण करके उनके पास आईं, और कुशल-क्षेम पूछकर, उन्हें नाना प्रकार के प्रलोभन देकर अपने साथ ले गईं। प्रत्येक यक्षिणी के साथ एक एक पुरुष रहने लगा।

एक रात जब सब सो रहे थे, तब महाकारुणिक आर्य अवलोकितेश्वर ने विश्व के दुःखी मानवों पर दृष्टिपात करते हुए इन व्यापारियों को आपदापन्न देखा, और रहस्यमय ढंग से सिंहसार्थबाहु से कहा—"ये यक्षिणी हैं, पापात्मा हैं, ये तुम सबको खा जायँगी। तुम लोग यहाँ से भाग जाओ" यह सुनकर सिंहसार्थबाहु का हृदय

धड़कने लगा। वह भले प्रकार यक्षिणियों की परीक्षा करने के लिये उनके वास-स्थान की एक कोठरी में गया। कोठरी के भीतर से शब्द आता था, किंतु द्वार नहीं जान पड़ता था। वह एक चंपक वृक्ष पर चढ़ गया, और उसके प्रांगण को देखने लगा। वहाँ बहुत-से पुरुष हल्ला कर रहे थे। सिंहसार्थबाहु को उनसे बातचीत करने पर ज्ञात हो गया कि वे पुरुष भी इन्हीं की भाँति कुछ दिन पूर्व व्यापार-हेतु ताम्रद्वीप आए थे, और नाव उलट जाने से इस विपत्ति में आ पड़े। उन्हें यक्षिणियों ने बंद कर रक्खा है, और इच्छानुसार भक्षण करती हैं।

सिंहसार्थबाहु वहाँ से लौटकर अपने सोने के स्थान पर गया। उसकी पत्नी यक्षिणी ने पूछा—"कहाँ गए थे? तुम्हारा शरीर बहुत ठंडा हो गया है।" उसने पेशाब करने जाने का बहाना बनाकर उसे संतोष दिलाया।

दूसरे दिन प्रातः उसने सब व्यापारियों को एकत्र किया, तथा सारी कथा सुनाकर भाग चलने का निश्चय किया। वे वहाँ से भागकर ब्रह्मपुत्र के किनारे आए। उस समय आर्य अवलोकितेश्वर अश्व का रूप धारण करके वहाँ आए हुए थे। उन्होंने उन सबको अपनी पीठ पर बैठाकर कहा—"तुम सब आँखें बंद कर लेना, बातचीत न करना, पीछे की ओर न देखना, केवल त्रिरत्न का स्मरण करना।"

जिस समय अश्वराज वायु-वेग से नदी पार कर रहा था, उस समय उसके शब्द से यक्षिणियों को इस कांड का पता लगा, और वे दौड़ी हुई नदी-तीर आईं। वे व्यापारियों को संबोधित करके कहने और छाती पीटने लगीं—"प्राणनाथ! रत्नाकर नगर और हमारी यौवन-श्री को क्यों त्यागते हैं? ज़रा हमारी ओर भी तो देखिए!" उनकी चिल्लाहट को सुनकर जिन व्यापारियों ने पीछे की ओर देखा, वे वहीं नदी में गिर गए। उनके गिरते ही यक्षिणियों

उन्हें पकड़कर रत्नाकर नगर ले गईं, और क्रमशः खा गईं। केवल अवशेष रहा सिंहसार्थबाहु। वह बाहर आकर घोड़े से उतरा, उसे प्रणाम किया, तथा सिंहकल्प नगर की ओर चल दिया।

इधर सब यक्षिणियों ने अपने-अपने पति को खा डाला। सिंहसार्थबाहु की स्त्री से कहा—"तूने अपने पति को नहीं खाया। वह जंबूद्वीप में जाकर अन्य व्यापारियों से कहेगा, और तब कोई भी इधर नहीं आवेगा। हम लोग क्या खावेंगी? अतः तुम भी अपने पति को जाकर खा आओ, नहीं तो ठीक न होगा।" यह सुनकर वह आकाश-मार्ग से सिंहसार्थबाहु के पास आई, और अपना भयानक रूप दिखाकर उसे डराया, किंतु वह उसे तलवार से मारने के लिये उद्यत हो गया। यक्षिणी भयभीत होकर दूर हट गई।

उस समय अन्य व्यापारी भी उस मार्ग से आ रहे थे। यक्षिणी ने एक परम सुंदरी तरुणी के रूप से उनके पास आने पर प्रार्थना की कि वे उसके पतिदेव को समझावें, जिससे वह उसे छोड़कर न चला जाय।

व्यापारियों ने सिंहसार्थबाहु को समझाया, किंतु जब उसने सारी कथा सुनाई, तब उन्हें भी डर हो आया, और उन्होंने चुपचाप अपनी राह ली। सिंहसार्थबाहु वहाँ से चलकर सिंहकल्प नगर पहुँचा। उसके मा-बाप उसे पाकर बहुत प्रसन्न हुए, और सब समाचार पूछकर सांत्वना दी।

यक्षिणी भी पीछे-पीछे सिंहकल्प नगर आई। उसने अपनी माया से एक नन्हा बालक बनाकर अपनी गोद में ले लिया, जिसके शरीर का रूप-रंग सिंहसार्थबाहु-जैसा था। वह अपने पति सिंहसार्थबाहु का घर पूछती हुई उसके पास गई। उसने उसे घर से बाहर निकाल दिया। लोगों ने बहुत समझाया, किंतु उसने किसी की बात पर ध्यान न दिया।

वह यक्षिणी रोती हुई राजा सिंहकेश के पास पहुँची। राजा ने इसकी सुंदरता पर मुग्ध होकर उसे अपनी रानी बना लिया।

एक रात, जब सब निद्रा-निमग्न थे, वह ताम्रद्वीप गई, और सब यक्षिणियों के साथ आकर सारे अंतःपुर को खा डाला। प्रातः राजभवन के ऊपर गृद्ध और काकों का झुंड देखकर लोग एकत्र हुए थे। सिंहद्वार खोलकर भीतर गए। उन्होंने देखा, अंतःपुर के सब लोग मरे पड़े थे।

राजा की मृत्यु के पश्चात् कोई दिन एक बहुत बड़ी सभा हुई। उस सभा में व्यापारी, बड़े-बूढ़े, सभी आए। सबने सिंहसार्थ-बाहु को राजा निर्वाचित किया। उसके बार-बार इनकार करने पर भी लोगों ने उसी का अभिषेक किया। तब से उसका नाम श्रीसिंहल राजा हो गया।

श्रीसिंहल राजा ने कुछ दिनों पश्चात् ससैन्य ताम्रद्वीप पर चढ़ाई की। यक्षिणियों को नष्ट करना ही उसके अभियान का परम ध्येय था। युद्ध में राजा की विजय हुई। यक्षिणियाँ पराहत होकर भाग गईं। श्रीसिंहल राजा ने घोषणा करके कहा—"पहले तुम लोग ताम्र-द्वीप में रहीं, किंतु अब यहाँ न आना। यदि तुम लोग यहाँ आओगी, तो जीवित न बचोगी।"

श्रीसिंहल राजा ने ताम्रद्वीप को अपने अधिकार में कर लिया, और रत्नाकरपुर नगर का निर्माण कराया। पहले देश का नाम ताम्रद्वीप था, किंतु श्रीसिंहल राजा के आधिपत्य के समय में सिंहलद्वीप हो गया।

सिंहसार्थबाहु की कथा यद्यपि संपूर्णतः सत्य नहीं है, किंतु नेपाल-वासी आज भी उसे सत्य मानते हैं। काठमांडू के पास एक मंदिर में उसकी मूर्ति भी बनी हुई है। कहते हैं, जो नेपाली अपने देश की वेश-भूषा में तिब्बत जाते हैं, और सिंहसार्थबाहु का स्मरण

करता है, उन्हें भूत-प्रेत आदि का भय नहीं होता। जान पड़ता है, सिंहसार्थबाहु नेपाल का कोई वीर योद्धा था, जिसने तिब्बत पर विजय प्राप्त करके वहाँ नेपाली प्रभुत्व की धाक जमाई थी।

ऐतिहासिक संबंध के विषय में बतलाया जा चुका है कि सातवीं शताब्दी में जब नेपाल में अंशुवर्मन राज्य कर रहा था, तब तिब्बत का सम्राट् स्रोङ्-चन-गोंबो नेपाल पर चढ़ दौड़ा था, और अंशुवर्मन को उसकी पुत्री भृकुटी राजकुमारी को देने के लिये बाध्य किया था। उसी राजकुमारी ने तिब्बत में बौद्ध-संस्कृति और धर्म का प्रचार किया था। तब से नेपाल और तिब्बत की घनिष्ठता और भी दृढ़ हो गई। कहते हैं, उसी समय सम्राट् स्रोङ्-चन-गोंबो ने सम्भोटाको अक्षर सीखने के लिये नेपाल भेजा था। उसने नेपाल से ही लेखन-कला और अक्षरों को सीखकर तिब्बती वर्णमाला का आविष्कार किया। तिब्बतियों ने लेखन-कला के साथ चित्र-कला और स्थापत्य-कला भी नेपाल में ही सीखी थी। नेपाल की राजकुमारी के साथ जब बौद्ध-धर्म तिब्बत में पहुँचा, तब वे राजनीतिक विजेता धार्मिक पराजय को प्राप्त हुए, और नेपाल का सम्मान करने लगे। आज भी नेपाल की वह राजकुमारी तारादेवी की तरह तिब्बत में पूजी जाती है।

भारतीय धर्म-प्रचारक आचार्य शांतरक्षित, कमलशील, दीपंकर श्रीज्ञान आदि सभी नेपाल होकर ही तिब्बत गए थे। धर्म और व्यापार-कार्य में नेपाल तिब्बत की सदा सहायता करता रहा है। परस्पर के निकट संपर्क के ही कारण नेपाल की तामंग, गुरुङ्, नेवारी आदि प्रायः सभी बौद्ध जनता में व्यवहृत भाषाएँ तिब्बती से मिलती-जुलती हैं।

साहित्यिक क्षेत्र में भी नेपाल का तिब्बत से प्रगाढ़ संबंध रहा है

नेपाली विद्वान् शांतिसिंह, अनंतश्री, जेतकर्ण, देवपुरुष-मिति, सुमतिकीर्ति, शांतिश्री आदि ने अनेक तंत्र-ग्रंथों का तिब्बती भाषा में अनुवाद किया। पीछे बहुत-से तिब्बती ग्रंथों का भी नेवारी आदि भाषा में परिवर्तन किया गया।

तिब्बती नेपाल को अपना तीर्थ-क्षेत्र मानते हैं। वे प्रतिवर्ष हज़ारों की तादाद में खास्ति-चैत्य और स्वयंभू-चैत्य की पूजा करने आते हैं। स्वयंभू चैत्य में जो इस समय ताखे में मूर्तियाँ बैठाई गई हैं, और जो चैत्य का घेरा बना है, उसे सन् १६४१ ई० में तिब्बत के श्यामार्पा लामा ने बनवाया था। खास्ति-चैत्य की मरम्मत के लिये तिब्बती लोग सदा मुक्त-हस्त से दान करते आए हैं। आनंदकुटी के पास ऊपर की ओर तिब्बती लामाओं का नया गुंबा (विहार) बन रहा है। नेपाल में उनके सर्वत्र गुंबे बने हुए हैं। नेपाल का उत्तरी भाग तो एक प्रकार से भोट ही जान पड़ता है। धौलागिरि से लेकर मुक्तिनाथ तक हमें सर्वत्र भोटिया ग्राम ही मिले थे। उधर भाषा भी श्यरप और भोट ही बोली जाती है।

व्यापार-कार्य हमेशा हुआ करता है। नेपालियोंने तिब्बत में जाकर अपनी बड़ी-बड़ी कोठियाँ बनाई हैं, तथा दूकानें खोली हैं। तिब्बती भी नेपाल आकर घोड़े, ख़च्चर और याक से सामान ख़रीद-कर ले जाते हैं। मुक्तिनाथ की ओर मैंने ख़च्चर, घोड़े और याक की पीठ पर नमक की बोरियों को लादकर आते और चावल से बदलकर तिब्बत लौटते हुए हज़ारों व्यापारियों को देखा था।

आजकल तिब्बत में व्यापार करनेवाले नेपालियों को और नेपाल में व्यापार करनेवाले तिब्बतियों को विशेष सुविधा है। यह सुविधा सन् १८५६ की संधि के समय से हुई है। पहली बार सन् १७६० में व्यापार के ही कारण नेपाल और तिब्बत में ठन

गई थी, तथा नेपाल को तिब्बत पर चढ़ाई करनी पड़ी थी। उसके बाद फिर सन् १८५४ में झगड़ा उठ खड़ा हुआ। उसका कारण यह था कि सन् १७९२ में नेपाल और चीन के साथ जो संधि हुई थी, उसके अनुसार नेपाल के महाराज प्रति पाँच वर्ष के पश्चात् चीन के सम्राट् को नज़राना दिया करते थे। नज़राना लेकर दूत तिब्बत के मार्ग से चीन जाया करते थे। एक बार तिब्बती लोगों ने इन दूतों का अनादर किया, अतः सन् १८५४ में नेपाल के महाराज ने तिब्बत पर चढ़ाई कर दी। भली भाँति तैयारी करने पर भी पहाड़ी मार्गों को पार करने में नेपाली सेना को बड़ा कष्ट उठाना पड़ा, फिर भी तिब्बती परास्त हो गए। सन् १८५५-५६ में फिर मुठभेड़ हुई, और अंत में दोनों देशों को संधि करनी पड़ी। संधि के अनुसार नेपाल के महाराणा ने तिब्बत के छीने हुए स्थानों को लौटा दिया, और तिब्बत-सरकार ने दस हज़ार रुपया नेपाल को देना स्वीकार किया। ल्हासा राजधानी में नेपाली राजदूत रक्खा जाने लगा। इसके साथ यह भी तय हुआ कि दोनों देश संकट पड़ने पर एक दूसरे की सहायता करें, एक दूसरे देश के व्यापारियों से चुंगी न लें, तथा नेपाली प्रजा का मुक़दमा नेपाली न्यायाधीश एवं तिब्बती प्रजा का मुक़दमा तिब्बती न्यायाधीश द्वारा किया जाय। तब से लेकर आज तक नेपाल और तिब्बत में कोई युद्ध नहीं हुआ। दोनों में मित्रता बनी हुई है।

आजकल नेपाल की ओर से ल्हासा में एक राजदूत (वकील), एक मुंसिफ़ (डीटा) तथा कुछ सिपाही रहते हैं। तिब्बत-सरकार प्रतिवर्ष लगभग चालीस हज़ार रुपया नेपाल के पास नज़राना भेजती है।

चीन

चीन देश का भी नेपाल से प्रागैतिहासिक काल से संबंध है।

स्वयंभू-पुराण के अनुसार चीन के मंजुश्री ने नेपाल-उपत्यका के महासरोवर को सुखाकर स्थल बनाया था, धर्माकर राजा चीन से ही आया था, जिसने नेपाल के 'महानगर' का निर्माण कराया था *; उस समय चीन देश के सदृश ही नेपाल में अक्षर-ज्ञान, शिल्प-विद्या, कृषि, वाणिज्य आदि का प्रचार था। स्वयंभू-पुराण का वर्णन भले ही सत्य न हो, किंतु यह निश्चित है कि नेपाल पर चीन का बहुत बड़ा प्रभाव था। सातवीं शताब्दी में जब चीन-देशीय सद्भावना-मंडल को भारत में सताया गया, और बहुत-से व्यक्तियों को मार डाला गया, तब नेपाल, तिब्बत और चीन की सेनाएँ भारत-नरेश अर्जुन से बदला लेने आई थीं, जिन्होंने अर्जुन को युद्धबंदी बनाकर वर्तमान देवरिया ज़िले के पूर्वी भाग तथा सारन और चम्पारन पर अपना अधिकार कर लिया था। उस समय से लगभग पचास वर्ष तक उक्त प्रदेश पर चीन-सम्राट् का शासन रहा। हम देखते हैं, भारत के उस अशांति-काल में नेपाल, तिब्बत और चीन इन तीनों राष्ट्रों में बड़ी घनिष्ठता थी। पहले बतलाया जा चुका है कि नेपाल और चीन के सम्राट् उस समय तिब्बत-नरेश स्रोङ्-च्चन-गेम्बो के अधीन थे, और उन्होंने अपनी पुत्रियाँ तिब्बत-नरेश को दी थीं।

तिब्बत और चीन देश एक दूसरे के घनिष्ठ मित्र होने के कारण पिछली शताब्दियों में जब कभी नेपाल और तिब्बत में युद्ध हुआ, चीनियों ने तिब्बत की सहायता के लिये नेपाल पर धावा बोला।

---

* "धर्माकरो नाम राजा चीनदेशात् समागतः;
यथा चीनमिवदेश तथा नेपालमण्डलः।
चीनदेशात्समायातो राजापि गुरुणा सह;
तथा चीनवद्राज्यञ्च सर्वं विख्यातमण्डलम्।"

सन् १७९१ ई० में 'दिगगारचा'-नामक स्थान के लिये चीन और नेपाल-सरकार में घोर युद्ध हुआ था। यह स्थान पहले चीन के गुरु का था। चीन के मंत्री धूमथाम और क़ाज़ी धुगिन ने खत्रिया-रसउआ तथा गोसाँईथान के नीचे देवराली में नेपालियों को कई बार परास्त किया। नेपाली पराजित होकर धुनचू होते हुए खबोरा भाग गए। दूसरे वर्ष नेपालियों ने लॉर्ड कार्नवालिस से सहायता माँगी, परंतु पहले उन्होंने चीनियों के साथ युद्ध करना स्वीकार नहीं किया। पीछे बहुत वाद-विवाद होने पर मार्च, सन् १७९३ में मेजर कार्क पैट्रिक को काठमांडू भेजा, परंतु अँगरेज़ी सेना के पहुँचने से पहले ही नेपाल के महाराज ने चीनवालों से संधि कर ली थी। इस संधि में नेपाल चीन-साम्राज्य के अंतर्गत माना गया, और प्रति पाँचवें वर्ष नेपाल ने चीन को नज़राना भेजना स्वीकार किया। सन् १८५४ ई० में, जब नेपाल से नज़राना लेकर चीन जानेवाले दूतों का तिब्बत में अनादर किया गया, और तिब्बत तथा नेपाल में भीषण युद्ध होने लगा, तब सन् १८५६ ई० में चीन के बीच में पड़ जाने से संधि हो गई। तब से लेकर आज तक दोनो देशों के साथ कोई विशेष घटना नहीं घटी।

सन् १८७३ ई० में तिब्बत के साथ नेपाल का कुछ मनमुटाव ह गया था, और जान पड़ता था कि फिर तिब्बत तथा नेपाल के इस झगड़े का चीन ही निबटारा करेगा, किंतु वह शीघ्र ही शांत हो गया। उसी वर्ष चीन-सम्राट् ने राणा जंगबहादुर को 'थौंन-लिन-पिम-माको-कांग-वांग-स्यान' अर्थात् "सैनिक नेता, सब कार्यों में बड़े वीर और सब प्रबंधों में सेना के पक्के स्वामी महाराज' की उपाधि से विभूषित किया। अँगरेज़ों ने भी जी० सी० एस्० आई० की उपाधि दी थी।

आजकल नेपाल और चीन में पूर्ववत् मित्रता है। चीन के मित्र

और बौद्ध गृहस्थ नम्‌बुरा, खास्ति तथा स्वयंभू-चैत्य के दर्शन के लिये आया करते हैं। सम्प्रति चीन देशवासी एक भिक्षु स्वयंभू-चैत्य के पास रहते हैं। वह हिंदी के दो-चार शब्द-मात्र जानते हैं। वहाँ के लोगों से तिब्बती में बातें करते हैं। मैं जब एक दिन धम्मालोकजी से मिलने गया, तब उनसे ज्ञात हुआ कि चीन देशवासी नेपाल को मंजुश्री द्वारा निर्मित अपना तीर्थ समझते हैं। स्वयंभू, खास्ति और नम्‌बुरा के चैत्यों पर चीनवाले अगाध श्रद्धा रखते हैं।

नेपाल में शिक्षा

सातवीं शताब्दी में, जब कि तिब्बतवालों ने नेपाल में आकर तिब्बती वर्णमाला का आविष्कार किया था, उस समय भी नेपाल में शिक्षा की कोई अच्छी व्यवस्था न थी। विहारों में कुछ बच्चों को शिक्षा दी जाती थी, और उसे ही पर्याप्त समझा जाता था, किंतु वह संतोषजनक और ऊँची नहीं होती थी। नेपाल से बाहर जाकर नालंदा, विक्रमशिला आदि विद्यालयों में पढ़नेवालों की संख्या बहुत ही कम थी। और फिर, उस युग में नेपाल के कतिपय भिक्षुओं को छोड़कर दूसरे छात्र इतनी दूर जाकर विद्याध्ययन कर ही कैसे सकते थे। आजकल तो हम देखते हैं कि नेपाल के विद्यार्थी न केवल भारत के ही विद्यालयों में शिक्षा पाते हैं, प्रत्युत लंका, बर्मा, इँगलैंड तक पहुँचे हुए हैं। उस समय जब चीनी भिक्षु श्यूआन-चुआङ् नेपाल पहुँचे, तब उन्होंने देखा कि लिखने-पढ़ने की कोई व्यवस्था नहीं थी, और न शिक्षा का प्रचार ही था। यद्यपि उस समय तक अंशुवर्मन-जैसे विद्या-प्रेमी और विद्वान् राजा यहाँ हो चुके थे, फिर भी सर्व-साधारण की शिक्षा के लिये कोई समुचित प्रबंध नहीं था।

पिछली शताब्दियों में भी नेपाल में कभी शिक्षा की कोई अच्छी व्यवस्था हुई थी—ऐसा नहीं दीखता। आजकल भी शिक्षा का प्रबंध ऐसा नहीं है, जिससे हम संतोष कर सकें, या अच्छा कह सकें। सन् १९३९ में सारे नेपाल-राज्य में केवल दो ही हाईस्कूल (वह भी काठमाड़ू में) थे। एक कॉलिज और एक मिडिल स्कूल था। अब प्रजा के अपने उद्योग और धन से चार पाँच और भी

नए हाईस्कूल खुले हैं, राज्य में कई छोटी-छोटी संस्कृत-पाठशालाएँ और निःशुल्क प्राइमरी स्कूल भी हैं, किंतु राज्य की ओर से उन पर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता है।

जब मैं २८ मार्च को एक प्रबुद्ध तरुण के आग्रह से काठमांडू के सरस्वती-सदन, त्रिचंद्र-कॉलेज, राजकीय पुस्तकालय, शांति-निकुंज-विद्यालय आदि का निरीक्षण करने गया, तब मुझे नेपाल-सरकार की शिक्षा की ओर से पूर्ण अनभिरुचि का पूर्ण रूप से ज्ञान हुआ। यह जानकर मुझे बड़ा ही आश्चर्य हुआ कि त्रिचंद्र-कॉलेज में केवल वे ही छात्र प्रवेश पा सकते हैं, जिनके माँ-बाप नेपाल-सरकार से आज्ञा-पत्र प्राप्त कर लें। इन राणा लोगों के पास तक पहुँच भी उन्हीं की हो सकती है, जो धनी और प्रतिष्ठित हैं। मध्यम श्रेणी तथा निर्धन प्रजा की उन तक पहुँच कहाँ! जो जनता के पैसे से नए स्कूल चल रहे हैं, वे भी कब तक चलेंगे, कहा नहीं जा सकता। उनके कार्यकर्ता सदा शंकित रहते हैं कि कहीं राष्ट्र के प्रति उनकी यह सेवा सरकार की दृष्टि में राजनीति के विरुद्ध न हो जाय।

शांति-निकुंज-विद्यालय में पहुँचकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई, जब मुझे विदित हुआ कि जो विद्यार्थी त्रिचंद्र-कॉलेज में पढ़ते हैं, वे जनता की दुरवस्था से करुणा-प्रेरित होकर प्रतिदिन अवकाश के पश्चात् इस विद्यालय में निःशुल्क बच्चे-बच्चियों को पढ़ाते हैं। इनकी निःस्वार्थ सेवा देखकर कोई भी व्यक्ति मुक्त कंठ से प्रशंसा कर सकता है। इस विद्यालय की एक और भी बड़ी विशेषता यह है कि इसके तरुण अध्यापकों ने भारत की राष्ट्र-भाषा हिंदी के अध्यापन की भी अच्छी व्यवस्था की है।

नेपाल में जनता के लिये एक भी पुस्तकालय या वाचनालय नहीं है। राजकीय पुस्तकालय में राजाज्ञा के बिना कोई कुछ अध्ययन नहीं

कर सकता और न सार्वजनिक पुस्तकालय या वाचनालय का ही निर्माण कर सकता है। कुछ वर्ष पूर्व काठमांडू में जनता की ओर से 'प्रदीप-पुस्तकालय' नाम से एक सार्वजनिक पुस्तकालय और वाचनालय की व्यवस्था हुई थी, किंतु सरकार की ओर से प्रतिबंध लगाकर उसे बंद कर दिया गया।

इस प्रकार नेपाल-सरकार नेपालवासियों को अशिक्षित रखकर जो अपना हित समझती है, वह कहाँ तक समुचित है, कहने की बात नहीं। यदि नेपाल में शिक्षा की अच्छी व्यवस्था हो, गोरखाली, नेवारी, तिब्बती, अँगरेज़ी, हिंदी के साथ पालि और संस्कृत-भाषाएँ भी पढ़ाई जायँ, तो नेपाल की आशातीत उन्नति हो सकती है। कोई भी शिक्षित राष्ट्र ही अपना उत्थान कर सकता है। जब तक शिक्षा का प्रचार न होगा, तब तक जनता अपने अधिकार और कर्तव्य न समझ सकेगी, और न देश की आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और सामाजिक उन्नति ही होगी। कदाचित् नेपाल के राणा लोग इस भय में हों कि जनता शिक्षित होकर, अपने अधिकार की माँग करके उनकी स्वार्थ-सिद्धि में बाधा उत्पन्न कर देगी। किंतु उन्हें ऐसा नहीं सोचना चाहिए। जिस दिन सारा नेपाल पूर्ण शिक्षित हो जायगा, उस दिन राणा लोगों का गौरव और भी बढ़ेगा। यदि वे लोग शिक्षा-प्रसार में पूर्ण सहयोग करेंगे, तो नेपाल किसी भी सभ्य राष्ट्र के सामने गर्व के साथ अपना सिर ऊपर उठा सकेगा।

नेपाली खान-पान और वेष-भूषा

नेपाल-राज्य के मधेश-प्रांत में बंजारे और थारू लोगों के अतिरिक्त अन्य सभी का खान-पान और वेष-भूषा प्रायः उत्तर भारतवासियों के समान है। राजनीतिक सीमाबंदी के कारण मधेश-प्रांत संप्रति नेपाल-राज्य के अंतर्गत है, किंतु उसकी गणना भारत में ही होती है। वहाँ गोंडा, बस्ती, गोरखपुर, देवरिया, चंपारन, मोतीहारी, दरभंगा, पूर्णिया आदि ज़िले के किसान ही बसते हैं। कुछ लोग नेपाल-उपत्यका या उसके पूर्व और पश्चिम के इलाक़ों से भी जाकर मधेश में बस गए हैं। उनका खान-पान और वेष-भूषा पर्वतीय लोगों के समान है।

मधेश को छोड़कर सारे नेपाल में खान-पान और वेष-भूषा जातियों के अनुसार विशेषकर तीन प्रकार की पाई जाती है—(१) नेपाल-उपत्यका तथा सारे नेपाल-राज्य में बिखरी हुई नेवारी-जाति की, (२) गोरखा-जाति की और (३) तामंग, गुरुङ्, मगर, भोट आदि जातियों की। भारत से गए हुए कुछ मुसलमानों का खान-पान और वेष-भूषा इनसे भिन्न है।

भारत के मारवाड़ियों के समान नेपाल के नेवारी लोग बड़े धनी और संपत्तिशाली हैं। ये खाने-पीने और पहनने-ओढ़ने के विशेष चाव रखते हैं। पुरुष अधिकतर चूड़ीदार पाजामा, अचकन की तरह लंबा जामा और सिर पर तिकोनी टोपी पहनते हैं। कमर के ऊपर एक लंबी पट्टी भी बाँधते हैं, जो कपड़े की होती है। इनकी तिकोनी टोपियाँ बड़ी भली मालूम देती हैं। वे रेशमी, ऊनी और पल्लेदार होती हैं। टोपी के लिये प्रायः फूलदार वस्त्र ही काम में लाए जाते

हैं। टोपी पहनना नेपाल की एक प्रधान प्रथा है। केवल अशुभ में टोपी नहीं पहनी जाती। नेवारी लोगों का लंबा जामा बड़ा ही सुंदर होता है। जब जामा पहनकर उसके ऊपर पट्टी बाँधते हैं, तब उनकी सुंदरता और भी बढ़ जाती है। यह पोशाक वस्तुतः भारत के लिच्छवि और मल्ल लोगों के आगमन के साथ यहाँ आई थी। उत्तर-भारत में अब तक विवाहों में दुलहे को प्रायः ऐसा ही जामा पहनाया जाता है। दुलहा मार्ग में भले ही दूसरे प्रकार का वस्त्र पहनकर जाय, किंतु बिना जामा पहने सिर पर मौर नहीं रक्खा जाता और न विवाह-संस्कार ही संपन्न होता है। नेवार लोगों की यह पोशाक उनकी प्राचीन सभ्यता को प्रकट करनेवाली है, जो उन्हें भारत के मल्ल और लिच्छवि लोगों से प्राप्त हुई थी।

नेवार लोगों का पाजामा भी एक विशेष प्रकार का होता है। पाजामे का ऊपरी भाग बहुत चौड़ा होता है, पीछे की ओर भी बहुत कुछ लटकता-सा रहता है, जिससे उन्हें बैठने में आसानी होती है, और वह जल्दी फटता नहीं। जिस समय पाजामे को पहनकर ऊपर से जामा पहन लेते हैं, उस समय पाजामे के पीछे का लटकन नहीं दिखाई देती तथा वह बड़ा ही आकर्षक जान पड़ता है।

गोरखा भी पाजामा और कुरता या पैरों तक लटकता हुआ जामा पहनते हैं। सबकी कमर में कई हाथ लंबा कपड़े का कमरबंद रहता है, जिसमें कुकड़ी (खुखड़ी) लटकती रहती है। जाड़े में भी इनकी पोशाक ऐसी ही होती है, किंतु उसके भीतर रुई भरी रहती है। नेवारी लोगों से इनकी टोपी में कुछ अंतर होता है। गोरखा लोगों की पोशाक वैसी सुंदर नहीं होती, जैसी नेवारों की।

गुरुङ् और मगर-जाति के लोगों की पोशाक प्रायः गोरखा-जाति के लोगों से मिलती-जुलती है। नामंग लोग जो धौलागिरि के आस

नास के प्रदेश से लेकर मारफा तक फैले हुए हैं। उनकी पोशाक भी इन्हीं के समान होती है। कुछ लोग तिब्बती लोगों के समान भी पहनते-ओढ़ते हैं। टुकचे के आगे दामोदर-कुंड आदि के प्रदेश तक बिखरे हुए लामाओं के वस्त्र भोट के लामाओं के समान होते हैं। नेपाल-उपत्यका के गुंबों (विहारों) में रहनेवाले भोट देशीय लामाओं की पोशाक भी वैसी ही होती है।

नेपाल में और जितनी जातियाँ हैं, उनका ओढ़ाव-पहनाव बहुधा उपर्युक्त के समान ही है। स्थान-विशेष में कुछ विभिन्नता हो गई है, किंतु उसकी अलग गणना नहीं होती।

राजपुरुषों का पहनाव एक विशेष प्रकार का होता है। वे सिर पर ज़री और अनेक प्रकार के पर, मणि-मुक्ता-जटित मुकुट, घुटनों तक लंबा रेशमी जामा, पाजामा और जूते पहनते हैं। रूमाल और तलवार का व्यवहार करते हैं। कहते हैं, राणा जंगबहादुर के सिर पर जो मुकुट रक्खा जाता था, उसका मूल्य एक लाख पचास हज़ार रुपए था। सैनिक विभाग के जेनरल और कप्तान अँगरेज़ी सेनापतियों के समान पोशाक पहनते हैं।

नेपाल की सभी स्त्रियाँ एक विचित्र प्रकार से सारी पहनती हैं। वे थोड़ा कपड़ा लेकर सामने की ओर घँघरे के समान चुनकर पहनती हैं, जिसे 'परसी' कहते हैं। सामने की ओर जो कपड़े की चुनावट होती है, वह दोनों पैरों को ढँककर भूमि पर लगती है, किंतु पीछे का कपड़ा इतना छोटा होता है कि वह पैरों से नीचे नहीं गिरता। राजघराने तथा धनी नेवार लोगों की स्त्रियाँ एवं लड़कियाँ घँघरे के समान जिस कपड़े को चुनकर पहनती हैं, उसकी लंबाई साठ से अस्सी गज़ तक होती है। यह कपड़ा बहुत ही महीन और हल्का होता है। वे ऐसा कपड़ा पहनकर कभी बाहर नहीं जातीं, केवल अपने वंश की मर्यादा रखने के लिये ऐसी पोशाक पहनती हैं। और,

इसी वेष से उनका विशेष आदर होता है। सभी स्त्रियाँ जामा और सारी पहनती हैं। कमर में कपड़ा लपेटने की तो प्रथा ही है।

नेवारी स्त्रियाँ अपने बालों को चूड़ाकार बाँध लेती हैं, किंतु अब कुछ वेणी गूँथकर सर्प के समान पीठ पर लटका देती हैं। सिर पर रेशम या सूत का डोरा बाँधकर बालों की शोभा बढ़ाती हैं।

नेपाली स्त्रियाँ गहना पहनना बहुत पसंद करती हैं। नेवार-जाति में तो गहना पहनने की ऐसी प्रथा है कि विवाह के समय कम-से-कम चार-चार, पाँच-पाँच हज़ार के आभूषण बनवाने पड़ते हैं। उनमें चाँदी के कड़ों के अतिरिक्त शेष सब सोने के होते हैं। मैं पाटन के सम्यक्-दान के दिन सुवर्णाभरण से ढँकी हुई कन्याओं को देखकर आश्चर्य-चकित हो गया। दस-दस वर्ष की कन्याएँ भी आभूषणों के भार से दबी जा रही थीं। उनका सारा सिर सोने के आभूषणों से ढँका था। हाथ की अँगुलियाँ अँगूठियों से भरी थीं।

नेपाली स्त्रियों का सारा कान छेदों से भरा रहता है। वे उनमें कर्णाभरण पहनती हैं। गले में माला भी डाले रहती हैं। गोरखा और भोटिया आदि अन्य जातियों की स्त्रियाँ सुलेमानी पत्थर, मूँगा तथा दूसरे बहुमूल्य पत्थरों की माला या भारी हार, चाँदी का कंठा और अनेक प्रकार के कर्णाभरण पहनती हैं।

नेपाली लोग चावल, गेहूँ, मक्का, फाफर आदि विशेष रूप से खाते हैं। मांस खाने का इन्हें बहुत शौक़ होता है। गोरखे उत्तर के पहाड़ी स्थानों और तराइयों से लाए हुए बकरे तथा भेड़ आदि का मांस खाते हैं। ये लोग शिकार के बड़े शौक़ीन होते हैं। समय-समय पर शिकार खेलने के लिये बाहर जाया करते हैं, और इच्छानुसार हिरन, जंगली सुअर, लोणालू, गोर्खांड, कुवाक, देरी, हरेल, सुइन, चील आदि पहाड़ी पक्षियों को मारकर उनका मांस खाते हैं।

राणा लोग भी शिकार खेलने में बड़ी दिलचस्पी लेते हैं। ये लोग विशेषकर सिंह का शिकार करते हैं। राणा जुद्धशमशेर जंगबहादुर ने अपने १४ वर्ष के शासन-काल में कुल ३५० बाघ मारे थे। उनके बहुत-से चर्म आज भी नेपाल-संग्रहालय में रक्खे हैं। नेपाल-संग्रहालय को ही देखकर राणा लोगों की शिकार के प्रति अनुरक्ति भली भाँति जानी जा सकती है।

बहुत-से लोग सुअर का बच्चा पालते हैं। नेवारी लोग भैंसा, भेड़, बकरा, हंस और मोर आदि पक्षियों के मांस बड़े प्रेम से खाते हैं। ऐसे ही मधेश के थारू लोग भी। वस्तुतः थारू लोग प्राचीन काल में बौद्ध थे, और इन दोनों बौद्ध जातियों का खान-पान एक समान है। यह भी कहा जाता है कि थारू शब्द 'थेर' (स्थविर) का अपभ्रंश है। ये लोग चौदहवीं शताब्दी के प्रारंभ तक वनवासी बौद्ध भिक्षु थे, जो पीछे अपने पुरातन धर्म को बिलकुल ही भूल गए, तथापि इनका खान-पान और शिष्टाचार बहुत कुछ अंशों में पूर्ववत् ही बना रहा।

मगर-जाति के लोग सुअर का मांस बड़े प्रेम से खाते हैं, किंतु भैंस का मांस नहीं खाते। इसके विपरीत गुरुङ् लोग भैंस का मांस खाते हैं, किंतु सुअर का मांस छूते तक नहीं। लिंबू, किराती, लेप्चा आदि बौद्ध धर्मावलंबी जातियों की भोजन-प्रणाली नेवार-जाति के लोगों के समान है।

साधारण लोग मांस-प्रिय होने पर भी धन के अभाव से प्रतिदिन मांस नहीं खरीद सकते, अतः वे साग-सब्ज़ी से ही अपना पेट भरते हैं। विशेषकर चावल, दाल, साग, लहसुन, प्याज़ और मूली आदि की तरकारी खाते हैं। गोभी, आलू, टमाटर आदि भी खूब खाते हैं। मूली को पचाने के लिये एक प्रकार की चटनी बनाकर भोजन के साथ खाते हैं, जिसे 'सिनकी' कहा जाता है। यह ऐसी सुरक्षित

और दुर्गंध-युक्त होती है कि मैं उसकी ओर देखना भी नहीं चाहता था।

नेवारी आदि नेपाल की प्रायः सभी जातियाँ मदिरा खूब पीती हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय कुछ थोड़े ही लोग मदिरा पीने में घृणा करते हैं। मैंने अपने यात्रा-काल में सर्वत्र चट्टियों पर मदिरा-भरे मटके देखे थे। बोझ ढोनेवाले सभी लोग उन चट्टियों पर पहुँचकर मदिरा पीते हैं। अपनी यात्रा में मैंने बहुत-से ऐसे लोगों को पाया, जो मदिरा पीकर मस्त हुए रास्ते में पड़े थे, उन्हें अपने अंग-वस्त्र का भी कोई खयाल नहीं था।

मदिरा पीने की प्रथा नेवार लोगों में विशेषकर है। वे उसे घर पर ही तैयार करते हैं। उत्सव के समय सदा मदिरा चलती है, जिसे 'एला' या 'रक्सी' कहते हैं। यह कोदो के चावल से बनाई जाती है। नेवार लोगों की कन्याएँ तब तक पति-गृह जाने योग्य नहीं समझी जातीं, जब तक वे भले प्रकार शराब बनाना न जान जायँ। उन्हें शराब बनाने के लिये चावल पकाकर 'पोः हायगु' बनाना भली भाँति सिखाया जाता है। जब वे अपने पति के घर जाती हैं, तब सर्वप्रथम उत्सव में उन्हें ही शराब बनानी पड़ती है, जिसे घर के सब लोग आनंद-पूर्वक पीकर नववधू की प्रशंसा करते हैं।

यह शराब उतनी मादक नहीं होती, जितनी विलायती ब्रांडी, तथापि इससे नेवार जाति का बड़ा नुक़सान होता है। अब इधर भिक्षु लोगों के धर्म-प्रचार से जिन उपासकों ने 'पंचशील' ले लिया है, उन्होंने शराब पीना बिलकुल छोड़ दिया है।

शारीरिक, मानसिक तथा आर्थिक पतन से बचने के लिये मदिरा-निषेध अत्यंत आवश्यक है। वस्तुतः देखा जाय, तो यह एक सामाजिक अपराध है। नेवार-जाति को ही नहीं, प्रत्युत सारी शराब पीनेवाली जातियों को इसका निषेध करना चाहिए। शराब का स्वास्थ्य

पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। क़ब्ज़, खून की कमी, मंदाग्नि, हृदय, फेफड़े और गुर्दे के रोग, स्नायुजन्य निर्बलता, आलस्य, पागलपन, नैतिक पतन, अविश्वास, जल्द थकना, कम आयु होना आदि बीमारियाँ हो जाती हैं। भगवान् बुद्ध ने इसकी बड़ी निंदा की थी, और कहा था—

"जो वारुणी-रत निर्धन, मुहताज, पियक्कड़, प्रमादी होता है, पानी की तरह ऋण में अवगाहन करता है, वह शीघ्र ही अपने को व्याकुल करता है*।

"शराब पीने के छः दुष्परिणाम हैं—(१) तत्काल धन की हानि, (२) कलह का बढ़ना, (३) रोगोत्पत्ति, (४) अपयश का उत्पन्न होना, (५) लज्जा का नाश और (६) बुद्धि को दुर्बल करना।

"मद में आकर मूर्ख लोग पाप-कर्म करते एवं दूसरों से भी कराते हैं। अतः उन्मत्तो, मुग्धो और मूर्खों की प्रिय शराब को पीना छोड़ दें†।"

नेपाली लोग तिब्बती चाय भी खूब पीते हैं। इसमें दूध नहीं डाला जाता, किंतु जो लोग कलकत्ता आदि हो आए हैं, वे दूधवाली चाय भी पीते हैं।

खाने के लिये नेपाल का चिउरा प्रसिद्ध है। यह बड़ा ही उत्तम और हल्का होता है। इसे भर पेट खाया जा सकता है। यहाँ की मिठाइयाँ भी भारत से भिन्न प्रकार की होती हैं। भूमिस्फोट के साग का यहाँ खूब चलन है। उसे सुखाकर रखते हैं, और विशेष अवसरों पर खाते हैं। इसका साग बहुत ही स्वादिष्ठ होता है।

---

* दीघ निकाय ३, ८।

† सुत्तनिपात २, १४।

नेपाल के निवासी और समाज-व्यवस्था

नेपाल में विभिन्न जातियों के लोग रहते हैं। भेरी और मर्स्याङ्दी, नदियों के बीच मगर-जाति के निवास-स्थान हैं, जो ऊँची-ऊँची पहाड़ियों की ढालों पर बने हुए हैं। यह जाति साहसी और वीर होती है। नेपाली सेना में ये बड़े शौक़ से भर्ती होते हैं। मगर-जाति की बस्ती से उत्तर की ओर गुरुङ् और तामंग लोग रहते हैं, जो उत्तर में बड़ी दूर तक फैले हुए हैं। 'ठकाली' लोग इनमें श्रेष्ठ माने जाते हैं। ये जातियाँ वस्तुतः नेपाल के प्राचीन मानव-वंश से संबंध रखती हैं। नेपाल के पूर्वी भाग में शिकिम की सरहद पर रोंग लोग रहते हैं, जिन्हें गोरखा लेप्चा नाम से पुकारते हैं। लिंबू, किराती और भोटिया-जाति की बस्तियाँ उत्तरवाली पर्वत-शृंखला तथा तिब्बत की सीमा तक की दूनों में पाई जाती हैं। गोरखा-जाति के लोगों का नेपाल से संबंध आधुनिक है। ये बहुत प्राचीन काल से नेपाल में नहीं रहते हैं, प्रत्युत इनका नेपाल-आगमन बारहवीं शताब्दी में हुआ था। ये लोग राजपूताने से यहाँ आए थे, जो संप्रति नेपाल में केवल सैनिक और शासक हैं।

नेपाल-उपत्यका की सबसे विशिष्ट और संपत्तिशाली जाति नेवार है। यद्यपि नेवार लोग सारे पर्वतीय प्रदेशों तथा तराइयों में फैले हुए हैं, किंतु इनका निवास-स्थान प्रधानतः नेपाल-उपत्यका में है। यह जाति अपेक्षाकृत अन्य जातियों से अधिक बुद्धिमान्, चतुर, शिष्ट और सुसंस्कृत है। संभवतः नेवार-जाति के वासस्थान के ही कारण इस देश का नाम नेपाल पड़ा है, जो ने=नेवा=नेवार=नेपार=नेपाल हुआ है।

नेवार लोग डील-डौल में लंबे और सुंदर होते हैं। इनके शरीर की गठन बतलाती है कि इनमें कई रक्तों का मिश्रण हुआ है। बौद्ध-धर्म के प्रचार के साथ ही इन्होंने भारतीय संस्कृति को अपनाया था, और जातिवाद के बंधन को तोड़कर सबके साथ रोटी-बेटी का व्यवहार किया था। उत्तर-भारत की जो भी जातियाँ—लिच्छवि, मल्ल, शाक्य, कोलिय—शरणार्थी-रूप में यहाँ आईं, सब इनमें मिलकर 'नेवार' हो गईं। उस समय इसकी हाज़मा-शक्ति बड़ी तेज़ थी। जहाँ एक ओर इस जाति ने भारतवासियों को हज़म किया, वहाँ दूसरी ओर हिमालय की निकटस्थ पर्वत-शृंखलाओं में रहनेवाली जातियों को भी अपने संसर्ग से बौद्ध बना लिया। आजकल की लेप्चा, तामंग और श्यर्पा आदि जातियाँ इसके ज्वलंत दृष्टांत हैं।

पृथ्वीनारायणशाह के पूर्व तक नेपाल-उपत्यका में नेवार-जाति के राजा का शासन रहा। यह जाति व्यापार-कार्य में बहुत कुशल है। नेपाल देश में अन्य जाति के लोग इसके समान सुंदर नहीं होते हैं। नेवार-जाति के स्त्री-पुरुष गोरे होते हैं। इनके बातचीत करने का ढंग आकर्षक और मधुर होता है। ये अपनी संस्कृति को आज तक अक्षुण्ण बनाए हुए हैं। भारत में गोरखा आदि सैनिकों को देखकर बहुत-से भारतवासी समझते हैं कि नेपाली गंदे, अशिष्ट, निर्धन और कुरूप होते हैं, किंतु नेपाल जानेवाले यात्री नेपाल की सौंदर्य-विभूति इस जाति के लोगों को देखकर मन-ही-मन नेपाल के सौंदर्य की प्रशंसा करते हैं। नेपाल का सारा रोज़गार और खेती-बारी का धंधा इसी जाति के हाथ में है। यद्यपि इस जाति को बहुत सताया गया और हिंदू बनाने का प्रयत्न किया गया, फिर भी थोड़े-से लोगों को छोड़कर सभी बौद्ध हैं।

क़ानूनन् कोई भी बौद्ध हिंदू-कन्या से विवाह नहीं कर सकता,

नेपाल के निवासी और समाज-व्यवस्था

नेपाल में विभिन्न जातियों के लोग रहते हैं। मेरी और मर्स्यांडदी, नदियों के बीच मगर-जाति के निवास-स्थान हैं, जो ऊँची-ऊँची पहाड़ियों की ढालों पर बने हुए हैं। यह जाति साहसी और वीर होती है। नेपाली सेना में ये बड़े शौक़ से भर्ती होते हैं। मगर-जाति की बस्ती से उत्तर की ओर गुरुङ् और तामंग लोग रहते हैं, जो उत्तर में बड़ी दूर तक फैले हुए हैं। 'ठकाली' लोग इनमें श्रेष्ठ माने जाते हैं। ये जातियाँ वस्तुतः नेपाल के प्राचीन मानव-वंश से संबंध रखती हैं। नेपाल के पूर्वी भाग में शिकिम की सरहद पर रोंग लोग रहते हैं, जिन्हें गोरखा लेप्चा नाम से पुकारते हैं। लिंबू, किराती और भोटिया-जाति की बस्तियाँ उत्तरवाली पर्वत-श्रृंखला तथा तिब्बत की सीमा तक की दूनों में पाई जाती हैं। गोरखा-जाति के लोगों का नेपाल से संबंध आधुनिक है। ये बहुत प्राचीन काल से नेपाल में नहीं रहते हैं, प्रत्युत इनका नेपाल-आगमन बारहवीं शताब्दी में हुआ था। ये लोग राजपूताने से यहाँ आए थे, जो संप्रति नेपाल में केवल सैनिक और शासक हैं।

नेपाल-उपत्यका की सबसे विशिष्ट और संपत्तिशाली जाति नेवार है। यद्यपि नेवार लोग सारे पर्वतीय प्रदेशों तथा तराइयों में फैले हुए हैं, किंतु इनका निवास-स्थान प्रधानतः नेपाल-उपत्यका में है। यह जाति अपेक्षाकृत अन्य जातियों से अधिक बुद्धिमान्, चतुर, शिष्ट और सुसंस्कृत है। संभवतः नेवार-जाति के वासस्थान के ही कारण इस देश का नाम नेपाल पड़ा है, जो ने=नेवा=नेवार=नेपार=नेपाल हुआ है।

नेवार लोग डील-डौल में लंबे और सुंदर होते हैं। इनके शरीर की गठन बतलाती है कि इनमें कई रक्तों का मिश्रण हुआ है। बौद्ध-धर्म के प्रचार के साथ ही इन्होंने भारतीय संस्कृति को अपनाया था, और जातिवाद के बंधन को तोड़कर सबके साथ बेटी-बेटी का व्यवहार किया था। उत्तर-भारत की जो भी जातियाँ—लिच्छवि, मल्ल, शाक्य, कोलिय—शरणार्थी-रूप में यहाँ आईं, सब इनमें मिलकर 'नेवार' हो गईं। उस समय इसकी हाज़मा-शक्ति बड़ी तेज़ थी। जहाँ एक ओर इस जाति ने भारतवासियों को हज़म किया, वहाँ दूसरी ओर हिमालय की निकटस्थ पर्वत-श्रृंखलाओं में रहनेवाली जातियों को भी अपने संसर्ग से बौद्ध बना लिया। आजकल की लेप्चा, तामंग और श्यपा आदि जातियाँ इसके ज्वलंत दृष्टांत हैं।

पृथ्वीनारायणशाह के पूर्व तक नेपाल-उपत्यका में नेवार-जाति के राजा का शासन रहा। यह जाति व्यापार-कार्य में बहुत कुशल है। नेपाल देश में अन्य जाति के लोग इसके समान सुंदर नहीं होते हैं। नेवार-जाति के स्त्री-पुरुष गोरे होते हैं। इनके बातचीत करने का ढंग आकर्षक और मधुर होता है। ये अपनी संस्कृति को आज तक अक्षुण्ण बनाए हुए हैं। भारत में गोरखा आदि सैनिकों को देखकर बहुत-से भारतवासी समझते हैं कि नेपाली गंदे, अशिष्ट, निर्धन और कुरूप होते हैं, किंतु नेपाल जानेवाले यात्री नेपाल की सौंदर्य-विभूति इस जाति के लोगों को देखकर मन-ही-मन नेपाल के सौदर्य की प्रशंसा करते हैं। नेपाल का सारा रोज़गार और खेती-बारी का धंधा इसी जाति के हाथ में है। यद्यपि इस जाति को बहुत सताया गया और हिंदू बनाने का प्रयत्न किया गया, फिर भी थोड़े-से लोगों को छोड़कर सभी बौद्ध हैं।

क़ानूनन् कोई भी बौद्ध हिंदू-कन्या से विवाह नहीं कर सकता,

किंतु 'नेवार-जाति को ऐन' की दूसरी धारा के अनुसार कोई भी तागाधारी (ब्राह्मण, क्षत्रिय) नेवार-कन्या के साथ विवाह कर सकता है। उनमें जो पुत्र होगा, वह पिता की जाति में मिल सकेगा, किंतु यदि पुत्री होगी, तो वह माता की ही जाति की होगी* । इस क़ानून के अनुसार नेवार आदि बौद्ध जाति की कन्याओं से विवाह करके नेपाल के हिंदुओं ने बहुतों की इज़्ज़त उतारी है, और पीछे उनका तिरस्कार कर दिया। जयस्थितिमल्ल-नामक हिंदू शासक ने अपनी ही नेवार-जाति को बौद्ध होने के कारण बहुत सताया था, और उसने इसे भी जाति-भेद मानने के लिये विवश किया था। किंतु इस जाति में वर्ण-व्यवस्था या जाति-भेद वैसा नहीं है, जैसा नेपाल की जातियों में।

जिस प्रकार हिंदुओं में समाज के अगुआ ब्राह्मण होते हैं, वैसे ही बौद्धों में वज्राचार्य, लामा, ठकाली आदि हैं। छुआछूत राजभय से सबको मानना पड़ता है, फिर भी बौद्धों में कम है। जब कोई नेपाल के बाहर तिब्बत, योरप, बर्मा आदि देशों में जाकर वापस आता है, तब उसे 'बड़ा गुरुजू' महाराज को कुछ नियमित पैसे देकर 'पतिया' लेनी पड़ती है। बिना 'पतिया' लिए कोई भी बाह्य देशों से वापस आया हुआ व्यक्ति अपवित्र समझा जाता है† । किंतु सैनिकों के लिये तथा भारतवर्ष आकर वापस जानेवालों के लिये यह नियम नहीं है। मुझे यह जानकर आश्चर्य हुआ कि इस समय महँगाई के कारण 'पतिया' की क़ीमत भी बढ़ गई है। जाति-पाँति के ठेकेदार बड़े गुरुजू महाराज हैं। पाठकों को यह जानकर आश्चर्य होगा कि यहाँ मुर्दे को भी 'पतिया' लेकर जाति दी जाती है‡ ।

---

* देखो 'ऐन' भाग पाँचवाँ, पृष्ठ ८१ ।

† देखो 'धर्माधिकार को ऐन' धारा नं० ८ ।

‡ वही, धारा नं० ४१

नेपाल एक अद्भुत देश है, जहाँ कुछ पैसे में 'जाति' खरीदी जा सकती है।

नेपाल की तराई के भाग में अन्य जातियों के अतिरिक्त कुशवार, देनवार, हायु बोटिया, दूरे, आमू, बोकमा, चेपाङ्, कुसुंदा, थारू आदि जातियाँ रहती हैं। सूनवार और मुमिन लोग भी वहाँ निवास करते हैं। काठभोटिया-जाति की बस्ती के पास पहाड़ियों में थकसिया और पाकिया नाम की भी दो जातियाँ निवास करती हैं। इनके अतिरिक्त नेपाल में पहियापचि, वायु, याकायु खम, थाखसिया, कोली, डोम, राजी, हरि, गढ़वाली, कुनेत, डोरारा, कस्व, वंव, गक्कर, दर्दु, दूंधर, कोच, बोदो, धिमाला, कीचक, पल्ल, कुच, दहि (दरि), बोधगा, अवलिया आदि जातियाँ हैं। अवलिया शाखा में गारो, दोलखली, वतर (बोर) कुदि, हाजंग, थनुक, मग्हा, अमात, केमात, याम आदि जातियाँ भी सम्मिलित हैं।

नेपाल की कर्मानुसार कुछ जातियों के नाम इस प्रकार हैं—

चुनारा=बढ़ई	सकरा=सोनार
सार्कि=चमार	गाइने=गाने-बजानेवाली जाति
कामि=लोहार	भानर=गायक*
दमाई=दरजी	आगरी=खोदनेवाला
कुमहल=कुम्हार	किसरी=कुम्हार
पोप=जल्लाद और चमारों का काम करनेवाली जाति	कुल=चर्मकार
नाय=कसाई	च्यामखलक=भंगी, मेहतर
डोंग, सुगी=बजानेवाली जाति	कौ=लोहार
धूसी=धातुओं को शोधनेवाली जाति	अव=राज

* ये अपनी स्त्रियों को वेश्या बनाते हैं।

ज्यापू=किसान — नौ=नाई, हज्जाम
कूमा=कुम्हार — संगत=धोबी
तट्टि=दरी या कफ़न बनाने-वाली जाति — गथा=माली
सावो=जोंक लगाकर रक्त निकालनेवाली जाति — किम्पि=छीपी
सिकमि=बढ़ई — कदमि=मिस्त्री, राज
लोहोंगकमि=संगतराश — पोडे=डोम

नेपाल में मुसलमान, मधेश के तेली, कसाही (क़साई), कुस्ले, धोबी, कुलु, म्लेच्छ और चुड़ारा-जाति का पानी नहीं चलता है। अछूत जातियाँ सार्की, कामी, सुनार, चुनारा, हुर्के, दमाई, गाइने, बादीभाट, पोड़े और च्यामखलक हैं।

पहले बंगाल के साथ नेपाल का घनिष्ठ संबंध था, और उसी समय से यहाँ बंगालियों का भी आना प्रारंभ हुआ। आजकल बहुत-से बंगाली भी नेपाल में रहते हैं, किंतु वे नेवारों के साथ हिल-मिल गए हैं। रत्नमल्ल (ई० सन् १४६२-१५१६) के समय में मुसलमानों का भी नेपाल में आगमन प्रारंभ हुआ। आजकल काठमाडू में बहुत-से मुसलमानों के घर हैं।

प्राकृतिक धन तथा व्यवसाय

नेपाल प्राकृतिक धन का एक अगाध भंडार है। इसकी पर्वत-शृंखलाओं की दूनों में लगभग सभी प्रकार के खनिज पदार्थ प्राप्त हो सकते हैं। पर्वतों की अनेक दूनों से जो मूल्यवान् पत्थर और मैली धातु पाई गई है, उनसे अनुमान होता है कि नेपाल महान् धन-राशि की निधि है। मिट्टी के कुछ नीचे ताँबा, लोहा आदि भी पाया गया है। यहाँ का ताँबा उत्तम होता है, किंतु लोहा अपेक्षाकृत अन्य स्थानों से गिरता हुआ है। गंधक अधिक पाई जाती है। यही कारण है कि वह बाह्य देशों को भेज दी जाती है। नेपाल में जो अनेक प्रकार के मिले हुए और मैले-मैले खनिज पदार्थ पाए जाते हैं, उनमें बहुत-सी बहुमूल्य धातुओं का अंश होता है। इसके अतिरिक्त यहाँ कई प्रकार के पत्थर भी पाए जाते हैं, जिनमें से संगमरमर, स्लेट, चूना और लाल-पीले पत्थर उल्लेखनीय हैं।

इधर फ़िरोज़ा, पेट्रोलियम, सोना और उपरलों की खानों का भी पता लगा है, किंतु वे व्यापारिक रूप से काम में लाए जा सकेंगे या नहीं, इसका अन्वेषण अभी पूरा नहीं हुआ है। गोरखा के पास एक प्रकार का स्फटिक (Crystal) पत्थर पाया जाता है, जो अच्छी तरह काटने पर हीरे की भाँति चमकता है। यहाँ की मिट्टी भी ऐसी है कि कुछ समय बाद सिमेंट के समान कड़ी हो जाती है।

नेपाल के जंगलों में देवदारु, भोजपत्र, चंदन आदि मूल्यवान् वृक्ष होते हैं। तराई के भाग में 'जंगल-विभाग' तो नेपाल-सरकार की आय का प्रधान साधन है, जिससे एक करोड़ पचास लाख रुपए

वार्षिक प्राप्त होते हैं। जंगली पशुओं से भी पचीस लाख की आमदनी होती है।

नेपाल की पर्वत शृंखलाओं की दूनों में अनेक प्रकार के मधुर फल और साग-सब्ज़ी होती है। पिस्ते, अखरोट, तूत, •समरी, आम और संतरे भी होते हैं। पोखरा के इलाक़े में तो कोई भी ऐसा घर नहीं, जिसके पास संतरे का बग़ीचा न हो। छोटी-छोटी पहाड़ियों पर जहाँ गरमी अधिक पड़ती है, वहाँ अनार, गन्ना ..आदि भी होते हैं।

पहाड़ी ढालों तथा मैदानों में, जाड़े में, गेहूँ, जौ, सरसों आदि की खेती होती है। बसंत में मूली, लहसुन, आलू आदि की और गरमी में धान, मक्का आदि की। किंतु विभिन्न प्रदेशों में ये फ़सलें विभिन्न समयों में होती हैं। नेपाल-उपत्यका के किसान खेतों से सोना उपजाते हैं। मिट्टी ऐसी उपजाऊ है कि यहाँ के खेत कभी खाली नहीं रहते। खेतों में ही खाद छिपी रहती है। नेपाल की वसुंधरा इस खाद को अपने गर्भ में छिपाए हुए किसानों का आह्वान करती है। जब इन्हें खाद की आवश्यकता होती है, तब खेत के किसी अंश में ऊपर की थोड़ी-सी मिट्टी हटाकर नीचे से काली सड़ी हुई मिट्टी खेत में बिछा देते हैं, जिससे फ़सल दूनी-चौगुनी होती है।

नेपाल-वसुंधरा का अतुल प्राकृतिक धन वस्तुतः बहुत कुछ अंशों में अभी अछूता पड़ा है। पहाड़ी झरनों से सस्ती-से-सस्ती बिजली की शक्ति उत्पन्न की जा सकती है, जिससे सारे नेपाल में काम चल सकता है। तराई के भाग में नहरों की व्यवस्था करके, खेतों की सिंचाई कर सोना बरसाया जा सकता है। पहाड़ी ढालों पर फल, केशर, कूट, चाय, सिंकोना आदि को उत्पन्न कर प्राकृतिक धन का पूर्ण रूप से उपयोग किया जा सकता है।

नेपाली लोग प्रधानतया भारत और तिब्बत से व्यापार करते हैं, किंतु जाड़े के दिनों में कश्मीरी, भूटानी आदि व्यापारी भी नेपाल

आते हैं। दार्जिलिंग के मार्ग को छोड़कर नेपाल से तिब्बत जाने के लिये तीन मार्ग हैं—(१) काठमाडू से कुटी होकर जाने का मार्ग, (२) त्रिशूली-नदी के किनारे-किनारे केरुङ ग्राम के पास से तादम होकर ब्रह्मपुत्र तक आने का मार्ग और (३) काली गंडक के किनारे-किनारे कागवेनी होकर जाने का मार्ग। इन्हीं मार्गों से नेपाली लोग व्यापार करते हैं। जो लोग प्रथम दो मार्गों से तिब्बत जाते-आते हैं, उन्हें क्रमशः १८००० तथा १६००० फ़ीट ऊँची पहाड़ियों पर चढ़ना-उतरना पड़ता है। सामान ढोने के लिये इन मार्गों में केवल बकरे ही काम आते हैं। बकरे की पीठ पर सामान लादकर लाते और ले जाते हैं। घोड़े आदि इन दुर्गम मार्गों से नहीं जा सकते। किंतु तीसरे मार्ग से याक, खच्चर और घोड़ों से सामान लाए जाते हैं। तिब्बत से पशमी माल, नमक, सुहागा, कस्तूरी, चँवर, हरताल, पारा, सोना, चाँदी, सुर्मा, मजीठ, चरस, अनेक प्रकार की ओषधि और सूखे फल आदि लाए जाते हैं, और नेपाल से ताँबा, पीतल, लोहा, काँसा आदि, विलायती कपड़ा, लोहे की चीज़ें, भारतवर्ष के सूती कपड़े, सुगंधित मसाला, तंबाकू, सुपारी, अनेक धातु और बहुमूल्य पत्थर भेजे जाते हैं।

नेपाल के व्यवसाय का बहुत बड़ा संबंध भारत से है। कलकत्ता, कालिंपोंग, बनारस, पटना, मुज़फ़्फ़रपुर, रक्सौल, गोरखपुर, दिल्ली, बंबई आदि नगरों से सदा नेपाली सौदागर माल ले जाते हैं। नेपाल के बड़े-बड़े सेठों की दूकानों की शाखाएँ कलकत्ता आदि नगरों में फैली हुई हैं। इन व्यापारियों में विशेषकर नेवारी जाति के लोग हैं, जो भारत की मारवाड़ी-जाति के समान नेपाल के कुशल व्यापारी हैं।

काठमाडू में घर-घर करघा होता है। लोग सूत कातते तथा सूती और ऊनी वस्त्र बनाते हैं। यहाँ के भोटिया लोगों के कंबल, गुलूबंद, स्वेटर आदि ऊन के सामान बहुत सुंदर होते हैं। नेवारी

लोग लोहा, ताँबा, पीतल और काँसे की बहुत-सी चीज़ें बनाते हैं। पाटन और भातगाँव में इन धातुओं का विशेष व्यवसाय होता है। भिक्षु श्यूआन-चुआङ् ने भी इनकी प्रशंसा करते हुए लिखा है—"ये लोग चतुर कारीगर हैं।"

नेपाली काग़ज़ प्रसिद्ध ही है। वह 'बर्रा'-नामक वृक्ष की छाल से बनाया जाता है। 'बर्रा' को 'जेकू' भी कहते हैं। इससे कागज बनाने का ढंग यह है कि पहले वृक्ष की छाल को किसी बर्तन में पानी डालकर उबालते हैं। जब वह ख़ूब खौल जाती है, तब उसको खरल में डालकर कूटते हैं। जब तक वह मैदा के समान नहीं होती, तब तक कूटते ही रहते हैं। पुनः पानी में डालकर छान लेते हैं। छाने हुए भाग को फेंककर पानी को सुखाते हैं। जब वह कुछ गाढ़ा हो जाता है, तब उसको एक लकड़ी के ऊपर डालकर सुखा लेते हैं, और घोंटकर चिकना बनाते हैं। नेपाली काग़ज़ नेपाल-उपत्यका से पूर्व की पहाड़ियों और काली गंडक के किनारे बहुत बनता है। बाग्लुङ का प्रदेश काग़ज़ के लिये प्रसिद्ध है। यह काग़ज़ इतना मज़बूत होता है कि तानने पर भी जल्द नहीं फटता। काग़ज़ बनाने का काम प्रायः भोटिया लोग करते हैं। नेपाल-सरकार के अड्डों में यही काग़ज़ प्रयुक्त होता है। इस पर पुस्तकें भी छपती हैं। नेपाल के पोस्टकार्ड और लिफ़ाफ़े इसी से बनते हैं। काठमाडू में इस कागज का एक बहुत बड़ा कार्यालय भी है, जिसका नाम 'नेपाल-कागल-कार्यालय लिमिटेड' है। इस कार्यालय में 'चिट्ठी लेखने-कागत' (Letter-pad), लिफ़ाफ़े, पोस्टकार्ड, अभ्यास-पुस्तिका आदि बनाई जाती हैं। नेपाल-सरकार यदि इस काग़ज़-व्यवसाय की ओर विशेष ध्यान दे, और इसे बाह्य देशों में भी भेजने का प्रबंध करे, तो इसकी पर्याप्त उन्नति हो सकती है।

नेपाल की भाषाएँ और नेवारी-साहित्य

नेपाल की वर्तमान् भाषाओं और साहित्यों के संबंध में लिखने से पूर्व उसके प्राचीन संस्कृत और पाली-भाषा के अमूल्य ग्रंथों के विषय में कुछ लिखना समीचीन होगा। भारत और नेपाल का संबंध सदा से रहा है। नेपाल भारत का पड़ोसी देश है। भारतीय संस्कृति और सभ्यता ने नेपाल के जीवन को ऊपर उठाया है। नेपाली साहित्यों को जो गौरव प्राप्त है, या उनके पास जो अमूल्य निधि है, वह प्रायः भारतीय विचारों की ही देन है। बुद्ध-काल में सारे मधेश प्रांत में पाली-भाषा बोली जाती थी। अशोक के समय तक उसका प्रचार और प्रसार सारे हिमवंत प्रदेश तक हो गया था। धर्म-प्रचारक स्थविरों ने जिस भाषा में हिमवंत प्रदेश की जनता को उपदेश दिया था, वह वस्तुतः पाली ही थी। आज भी उस पाली के शिलांकित रूप लुंबिनी तथा कपिलवस्तु के अशोक-निर्मित स्तंभों पर विद्यमान हैं। हरिद्वार और गढ़वाल के प्रदेश में भी अशोककालीन पाली-भाषा के लेख मिले हैं। वे सब तद्देशीय जनता की भाषा में लिखे गए थे, जो आज नेपाल में पाली के महत्त्व-पूर्ण लेख हैं।

हम देखते हैं कि अशोक के पीछे नेपाल में संस्कृत-साहित्य का प्राबल्य हुआ। शांत-रक्षित, दीपंकर श्रीज्ञान आदि जो भी भारतीय विद्वान् नेपाल गए, उन्होंने संस्कृत भाषा में ही अपने ग्रंथों की रचनाएँ कीं। आचार्य शांत-रक्षित ने तो तिब्बत पहुँचकर भी संस्कृत में ही उपदेश दिया, जिसका तिब्बती भाषांतर कश्मीरी पंडित अनंत करते थे। नेपाल की जितनी वंशावलियाँ मिली हैं, वह प्रायः सब संस्कृत में ही हैं। नेपाल संस्कृत-साहित्य का एक महान् पुस्तक-भंडार है।

श्रीहडसन ने नेपाल से बौद्ध-धर्म के अनेक संस्कृत-ग्रंथों का संग्रह किया था, किंतु दुर्भाग्य कि जिस जहाज़ में इन पुस्तकों की प्रथम नक़ल भेजी गई, वह जहाज़ समुद्र में डूब गया, किंतु श्रीहडसन फिर भी निरुत्साह नहीं हुए, उन्होंने दुबारा उनकी नक़ल करा कर भेजा था। उनके बाद डॉ० रिट ने और फिर बेंडेल ने इस कार्य-क्षेत्र में पूरी तत्परता दिखाई थी। आज नेपाल की अमूल्य निधि को जो देखना चाहे, उसे नेपाल का राजकीय पुस्तकालय देखना चाहिए।

नेपाल में संस्कृत ग्रंथों की भरमार है, जिनमें हिंदू और बौद्ध-ग्रंथ सम्मिलित हैं। श्रीराजेंद्रलाल मित्र ने सन् १८८२ में 'नेपाल का संस्कृत-बौद्ध-साहित्य' (Sanskrit-Buddhist Literature of Nepal) के नाम से एक बृहद् ग्रंथ विवरण के साथ छपाया था, जिसका प्रकाशन एशियाटिक सोसाइटी, बंगाल से हुआ था; उसमें निम्न-लिखित ग्रंथों के नाम दिए हुए हैं—

ग्रंथ का नाम	लेखक	श्लोक-संख्या
(१) अभिधानोत्तरं	×	३,१००
(२) अभिधर्मकोशव्याख्या (मूल-सहित)	आचार्य यशोमित्र	१६,२६६
(३) अशोकावदानं	×	६,६६०
(४) अवदानशतकं	नंदीश्वर आचार्य	६,२४८
(५) अपरिमितायुर्धारिणी	×	१६०
(६) भद्रकल्पावदानं	×	७,११०
(७) बोधिचर्यावतारः	शांतिदेव	१,१००
(८) बोधिसत्त्वावदान	×	४,७८४
(९) बोधिसत्त्वावदानकल्पलता	महाकवि क्षेमेंद्र	३,७०५
(१०) बुद्धचरित्रम्	श्रीनखमल ब्रह्मचारी	२,४४५
(११) छंदोऽमृतलता	अमृतानंद	७५८

ग्रंथ का नाम	लेखक	श्लोक-संख्या
(१२) धारणीमन्त्रसंग्रहः	अमृतानंद	२,१८०
(१३) दशभूमीश्वरः	,,	३,३९३
(१४) दुर्गतिपरिशोधनम	,,	१,१९३
(१५) द्वाविंशावदानम्	,,	६,५००
(१६) गणपतिहृदयः	,,	१०
(१७) गण्डव्यूहः	,,	१२,९२९
(१८) ग्रहमातृकाधारणी	,,	×
(१९) गुणकारण्डव्यूहः	,,	४,३४०
(२०) कल्याणपञ्चविंशतिका	,,	२५०
(२१) कपिशावदानम	,,	५९०
(२२) कारण्डव्यूहः	,,	१,६००
(२३) कपिकुमारकथा	,,	×
(२४) क्रियासंग्रहपञ्जिका	महापंडित कुलदत्त	४,२८५
(२५) कुशजातकम्	,,	७,१५३
(२६) लोकेश्वरशतकः	श्रीवज्रदत्त	२५०
(२७) ललितविस्तरः	,,	×
(२८) लङ्कावतारः	,,	३,०००
(२९) महावस्त्ववदानः	,,	२८,३७०
(३०) [illegible]	,,	१,८००
(३१) [illegible]	,,	४३
(३२) महाविद्यामन्त्रानुसारिणी	,,	१०८
(३३) महासाहस्रप्रमर्दिनी	,,	७१८
(३४) महाप्रतिसरा-कल्प	,,	५८८
(३५) मध्यमकवृत्ति	आचार्य चंद्रकीर्ति	३,२००
(३६) महाकालतन्त्र	,,	४००

ग्रंथ का नाम	लेखक	श्लोक-संख्या
(३७) महामायूरी	आचार्य चंद्रकीर्ति	१,०३६
(३८) मारिची नामधारणी	,,	५०
(३९) परमार्थनामसंगीति	,,	१००
(४०) पर्णशबरी नामधारणी	,,	२२
(४१) प्रज्ञापारमिता शतसाहस्रिका	,,	२६,६६८
(४२) प्रज्ञापारमिता अष्टसाहस्रिका	,,	८,१६०
(४३) पंचविंशतिसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता	,,	२०,०४५
(४४) प्रज्ञापारमिता-टीका	मैत्रेय	६,२००
(४५) पिंडपात्रावदानम्	,,	१००
(४६) पूजानिङ्कलिः	,,	१,८० ०
(४७) प्रद्योतनुत्तन	,,	५४०
(४८) रत्नमालावदानम्	,,	२,६००
(४९) सद्धर्मपुंडरीकम्	,,	२,८००
(५०) समाधिराजः	,,	५,२३९
(५१) सप्तकुमारिकावदान वा अहोरात्रव्रतानुशंसा	,,	८५०
(५२) शार्दूलकर्णावदानम्	,,	१,८००
(५३) सर्वतथागतोष्णीषसितातपत्रा नाम प्रत्यंगिरा	,,	२००
(५४) स्रग्धरास्तोत्र	सर्वज्ञ मित्र	१२०
(५५) स्रग्धरास्तोत्र-टीका	भिक्षु जिन रक्षित†	५८०
(५६) शृंगभेरी	,,	५४०

* यह व्याकरण-ग्रंथ है।

† यह विक्रमशिला-महाविहार के प्रधान भिक्षु और राजगुरु थे।

ग्रंथ का नाम	लेखक	श्लोक-संख्या
(८१) करुणापुंडरिकम्	अमृतानंद	४,५००
(८२) रत्नपरीक्षा	बुद्धभट्टाचार्य	८५०
(८३) कल्पद्रुमावदानम्	"	६,७६०
(८४) दिव्यावदानमाला	"	६,४००

इनके अतिरिक्त सैकड़ों ग्रंथ नेपाली बौद्धों के घर पड़े हुए हैं, जिन्हें वे बड़ी श्रद्धा से पूजते हैं। अष्टमीव्रत आदि कुछ ऐसे भी ग्रंथ हैं, जिन्हें वे दूसरों को नहीं दिखलाते हैं। मैंने अष्टमीव्रत को किसी प्रकार सागु बाज़ार (त्रिशूली) में पढ़ पाया था। यदि भारतीय या नेपाली प्रकाशन-संस्थाएँ इन अमूल्य ग्रंथों को छपाने में लग जायँ, तो एक महान् उपकार और इतिहास तथा संस्कृत के उद्धार का पवित्र कार्य होगा। इधर बड़ौदा-गायकवाड़-सीरीज़, कलकत्ता-ओरियंटल सीरीज, बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी तथा नेपाल की कई एक संस्थाओं ने कुछ ग्रंथों का प्रकाशन किया है, फिर भी अभी तमाम ग्रंथ नेपाली कागज़ पर लिखे हुए लोगों के घर एवं राजकीय पुस्तकालय (नेपाल) में पड़े हुए हैं।

आजकल नेपाल में लगभग बाईस भाषाएं प्रचलित हैं, जिनमें प्रधान रूप से नेवारी, गोरखाली, तामंग, हिंदी, गुरुङ्, मगर, किराती, शरप, लेप्चा आदि भाषाओं की गणना होती है। इन भाषाओं में गोरखा और हिंदी आर्य-कुल की भाषाएँ हैं, तथा अन्य भाषाओं को आधुनिक वैयाकरण और जन-वैज्ञानिक तिब्बती-बर्मी कुल की बतलाते हैं।

हमें यहाँ हिंदी के संबंध में कुछ नहीं कहना है। जिस प्रकार प्राचीन काल में संस्कृत और पाली भाषाएँ नेपाल में प्रचलित थीं, उसी प्रकार संप्रति हिंदी भी बोली जाती है। गोरखाली, जिसे खसकुरा और पर्बतिया भी कहते हैं, नेपाल की राजभाषा है। यद्यपि इसका

संबंध मारवाडी-भाषा से है, क्योंकि राजपरिवार मेवाड़ के सिसोदिया राजाओं का वंशज है, तथापि इसमें कुमाउनी, गढ़वाली तथा पश्चिम पहाड़ी अर्थात् जौनसार से चंबा तक की बोलियों के शब्द सम्मिलित हैं। हिंदी-पाठक गोरखाली-भाषा को भली भाँति समझ सकते हैं। चूँकि यह भाषा बहुत प्राचीन नहीं है, अतः इसके प्राचीन साहित्य का कोई पता नहीं। कई अँगरेज लेखकों ने इस भाषा के संबंध में पुस्तकें और ट्रैक्ट लिखे हैं। मुंशी शिवशंकरसिंह और पं० गुनानंद ने नेपाल की जातियों और उनकी भाषाओं का इतिहास गोरखाली में ही लिखा है। श्रीखुशालसिंह बुढाथोकी ने इस भाषा का एक व्याकरण-ग्रंथ भी लिखा है। इस राजभाषा होने के कारण अहर्निश इसका साहित्य-भंडार नए-नए ग्रंथों से पूर्ण होता जा रहा है। नेपाल-सरकार की कृपा-दृष्टि है भी तो केवल इसी पर। वर्तमान समय में गोरखाली-भाषा में उदय (मासिक), गोरखा पत्र (दैनिक) और सेवा-पत्र (मासिक) प्रकाशित होते हैं। इतने अधिक ग्रंथों का भी प्रकाशन हुआ है, जिनका यहाँ वर्णन करना संभव नहीं।

गोरखाली-भाषा के गद्य का यह एक नमूना देखिए —

"नेपालमा जंगल प्रशस्त छन्। हिमालमा देवदार, धूपी हरू पहाड़मा शाल, सल्लोहरू तथा मधेशमा शाल शिशौ, खयर, सिमल हरूका प्रशस्त वन छन्। भित्री मधेश तथा तराई ज्यादै वाकला वन हुनाले त्यहा बाघ, भालु, गैंडा, अर्ना आदि प्रशस्त वनैया जंतु हरुको वस्ति छ। त्यसैले यो जंगलहरू शिकार का लागी ज्यादै उप-युक्त छन्। यी जंगल मध्ये चितौन को जंगल शिकारका लागी ज्यादै प्रसिद्ध छ *।"

गोरखाली गीत बड़ा मधुर होता है। स्त्री-पुरुष दो गिरोह होकर

* नेपाल का संक्षिप्त इतिहास, पृष्ठ ५।

जब एक दूसरे को हराने के लिये गीत गाते हैं, तब बहुत अच्छा मालूम पड़ता है। गीत में अंत के शब्दों पर बल जो दिया जाता है। गोरखाली-भाषा का एक गीत यहाँ उद्धृत किया जाता है—

"जली - जली तारा जगमा हुन्छु,
जगमग ज्योति जगमगाउँ छु;
अंधकार हजार दूर गर्छु,
दर्शक भई मार्ग देखाउँछु * ।"

तिब्बती-बर्मी कुल की सभी भाषाएँ परस्पर मिलती जुलती हैं। इन भाषाओं के महान् साम्य को देखकर ज्ञात पड़ता है कि इनका संबंध बहुत प्राचीन है, और ये सब एक ही जननी की पुत्रियाँ हैं। मैं यहाँ कुछ शब्दों को दे रहा हूँ, जिनमें इनका साम्य स्पष्टतः ज्ञात होता है—

	हिंदी	तिब्बती	नेवारी	तामंग	गुरुङ्	मगर	किराँती	शेरपा	लेप्चा	बर्मी
(१)	मैं	ङा	जि	ङा	ङा	ङा	काङा	ङा	ङो	ङा
(२)	दाँत	सो	वा	स्वा	स्वा	स्वा	इकि	सो	...	स्वा†
(३)	आँख	मिग्	मिखा	मिग्	मि	मे	मिच्	मिग्	अमिक	मिसि
(४)	आग	मे	मि	मे	मे	मे	मि	मे	...	मि
(५)	लकड़ी	सिं	सि	सि	सिं	सि	सूँङ्	सि	...	ठँ
(६)	मार्ग	लम्	लँ	लम्	लम्	लम्	लाम	लम्	लोम	लाँ

नेवारी और बर्मी-भाषा के कुछ और शब्दों और वाक्यों की समानता देखिए—

* उदय, वर्ष ११, किरण १०-१२।

† लिखते समय 'स्वा' ही लिखते हैं, केवल उच्चारण 'स्वा' होता है।

	हिंदी	नेवारी	बर्मी
(१)	जन्म-वर्षी	जातः	जातः
(२)	हाथ	ल्हा	लें
(३)	कान	न्हाय	न्हा
(४)	नाक	न्हाये	न्हर्मी
(५)	सत्य है ?	खः ला ?	हो कैला ?
(६)	सत्य नहीं है।	मखुला	महोमुला
(७)	है ?	दुला ?	सीदला ?
(८)	प्रश्नार्थ	ला ?	ला ?
(९)	मा	मा	अमे (मे)
(१०)	पिता	अबु (बा=ब्बा)	अभा

इनमें नेवारी-भाषा बहुत ही परिष्कृत और अंग-परिपूर्ण है। इस पर आर्यावर्त्ती संस्कृत, पाली तथा प्राकृत-भाषाओं की पूरी-पूरी छाप पड़ी है। नेपाल में जितने भी प्राचीन ग्रंथ लिखे गए हैं, वे प्रायः संस्कृत और नेवारी-भाषा में ही लिखे गए हैं। गोरखा-शासन के पूर्व नेपाल की राजभाषा नेवारी ही थी। अतः सदा से इसे राज्य की ओर से भी प्रश्रय मिलता आया था। चूँकि यह भाषा नेपाल की विशिष्ट बौद्ध-धर्मावलंबी नेवारी-जाति की मातृभाषा है, इस-लिये बौद्ध-धर्म के तमाम ग्रंथों का अनुवाद इसी भाषा में हुआ है। नेपाल के आधुनिक साहित्यों में इसके सदृश प्रौढ़ दूसरा कोई साहित्य नहीं है।

नेवारी-भाषा की लिपि भी एक महत्त्व-पूर्ण लिपि है, जो देव-नागरी से मिलती जुलती है। इसके कुछ अक्षर बँगला के ही समान हैं। उ, ऊ, अं, अः, ऋ, ॠ; क, ख, ग, घ, च, छ, ट, ढ, त, थ, द, ध, न, ब, म, य, ल, व, प, स, ह, ये अक्षर थोड़े-बहुत अंतर से देवनागरी से मिलते हैं, और अ, आ, ए, ऐ, ज, झ, ञ, ञ,

ये अक्षर बँगला में मिलते हैं। श अक्षर तिब्बती में मिलता है, और शेष इ, ई, ओ, औ, लृ, लॄ, ङ, ट, ड, ण, प, फ, भ, र, क्ष तथा ज्ञ अक्षर नेवारी-भाषा का अपना है। ए, लृ, ल, ज, ठ, ण, थ, ध और श अक्षरों के ऊपर अन्य अक्षरों की भाँति रेखा नहीं होती है। नेवारी-भाषा में भी कुल ५२ अक्षर हैं। खेद की बात है कि नेवारी-लिपि में केवल प्राचीन ग्रंथ ही लिखे गए हैं। आजकल विरले ही नेवारी-भाषा-भाषी उसे अच्छी तरह जानते हैं। लिखने-पढ़ने का सारा कार्य देवनागरी-लिपि में ही होता है। संप्रति नेवारी-भाषा की जितनी पुस्तकें छपी हैं, सब नागरी-लिपि में ही छपी हैं। जान पड़ता है, कुछ दिनों के पश्चात् नेवारी-लिपि देखने के लिये भी न मिलेगी।

नेवारी-भाषा के शब्द बड़े मधुर और श्लिष्ट होते हैं। यहाँ नेवारी-भाषा के गद्य का एक नमूना दिया जाता है—

"थौं जि राजगृहस भिक्षाया लागि वनाबले जिं खना कि गृहस्थ छम्ह प्यागु वसतं पुना, पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, च्वे क्वे सकल दिशायात नमस्कार याना चों च्वोन। बेचारा, थ: थ:मंनं मस्यू कि दिशापूजन छाय् याना च्वोना धका। मा बौं तथा अजिबाज्यापिनि रीनि माने याना पूजा याना च्वगु जुल। थुगु प्रकारया अर्थं मदुगु ज्या याना मनुष्यया शक्ति मफने फुना वनी। तर थुकिं धर्मया विशयस मफते हे संतोष जुई। थुकिं धर्म जा ठुं जुई मखु तथा मनुपिसं भापी कि जिमिसं धर्मयाना च्वोना धका* ।"

अर्थ—आज मैं राजगृह में भिक्षाटन के लिये गया, तो देखा कि एक गृहस्थ गीले कपड़े पहने हुए पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊपर, नीचे सब दिशाओं को नमस्कार कर रहा था। बेचारा स्वयं भी नहीं समझता था कि दिशा-पूजन क्यों की जाती है? माता-पिता तथा

---

* 'नुगः'-नामक ग्रंथ से उद्धृत।

मातामह-पितामह की गति मानकर पूजा कर रहा था। इस प्रकार के अर्थ-शून्य क्रिया-काण्ड मनुष्य की शक्ति व्यर्थ नष्ट करते हैं, और इनसे धर्म के विषय में वृथा संतोष होता है। धर्म तो होता नहीं है, और लोग समझ लेते हैं कि हमने धर्म किया।

नेवारी-भाषा के पद्य भी श्रुति-मधुर और काव्य-सौंदर्य से युक्त होते हैं। नेवारी-भाषा में जो भजन, राग-रागिनियाँ, वीर-गाथाएँ, ग्राम्य गीत और कविताएँ हैं, वे नेपाल की प्राचीन संस्कृति की परिचायक तथा इतिहास की शृंखला में बँधी हुई पाठक एवं श्रोतागण को मुग्ध कर लेती हैं। नमूनार्थ यहाँ एक कविता उद्धृत की जा रही है—

"प्राण ! नुगः याय् मफु थौं वश जि ;
नाथ ! वने छाय् हेगु जितः छिं ?
जिम्ह् भाःत छि म्हः सेवा याय् जि ;
तर मस्त खनाः चीं मफु मन जि ।"

प्राण ! आज मैं अपने हृदय को वश में नहीं कर सकी ; नाथ ! मुझे आप वन में क्यों लाए ? आप मेरे पति हैं, मैं आपकी सेवा करूँगी, किंतु मैं अपने हृदय के टुकड़े बच्चों को देखकर मन को बाँध न सकी।

"मदु जगते सुख दुःखया माःचाः ;
दुःखी मस्ते छं कष्ट स्वयाः ।
थः मस्तेनं या कष्ट सियाः ;
श्यौ छं सुख दुःखया ल्याःचा ।"

जगत् में सुख-दुःख का महत्त्व नहीं है। हमने दुःखी बच्चों के कष्ट को देखकर उनके कष्ट का अनुभव करो, तब तुम सुख-दुःख का हिसाब लगा सकोगी।

"जंगल मंगल याय् तजिपि ;
बंधन मोचन याना वै पि ।

संकट विस्यु हुँ, वन यात जिपि ;
शांति - निकेतन भा:या वैपि * ।"

जंगल में मंगल करने के लिये बंधन से मुक्त होकर हम लोग आए हैं। संकट (तुम), भाग जाओ। हम वन को ही शांति-निकेतन समझकर आए हैं।

नेवारी-साहित्य अनुवाद, मौलिक रचना, गद्य और पद्य-काव्य, गीत, भजन, कहानी, उपन्यास, व्याकरण, इतिहास आदि सब प्रकार के ग्रंथों से पूर्ण है। नेवारी-भाषा का व्याकरण अँगरेजी में भी लिखा गया है। इसका शब्दकोश डेनमार्क से प्रकाशित हुआ है। इस समय भी 'विचित्र निकावदान' तथा 'बत्तिस पुत्तलिका-कथा' का अँगरेज़ी अनुवाद भी इँगलैंड से प्रकाशित हो चुका है।

प्राचीन अनूदित ग्रंथों में रामायण, महाभारत, स्वयंभूपुराण, शुकबहत्तरी, वैतालपंचविंशति, सहस्र रजनी, अनेक अवदान, पंचतंत्र, हितोपदेश, नीति-ग्रंथ, सुप्रिय सार्थवाह, सिंहसार्थवाह आदि उल्लेखनीय हैं। अन्य प्रकाशित और अप्रकाशित ग्रंथों का वर्णन संक्षेप में, लेखकों और कवियों के विवरण के साथ, दिया जा रहा है—

(१) **स्वयंभू स्तोत्र**—लेखक का नाम अज्ञात। इसकी रचना नेपाली संवत् 'पांडव नेत्र मातृका' (८२५) में हुई थी।

(२) **विप्रलक्ष्मी सुनंद**—इन्होंने नेपाली संवत् 'निगुनु दथूसं छिता डा मिति' (६१६) में 'सरस्वती-स्तोत्र'-नामक ग्रंथ लिखा था।

(३) **पंडित अमृतानंद**—यह संस्कृत और नेवारी के बहुत बड़े विद्वान्, कवि और लेखक हो गए हैं। यह पाटन के रहनेवाले थे। इन्होंने संस्कृत में जिन ग्रंथों को लिखा है, उनका नाम पहले लिखा

* कवि आघर्नरत्न 'यमि' के 'विश्वंतर' काव्य से उद्धृत।

जा चुका है। नेवारी-ग्रंथों में कल्याणमंद-स्तोत्र (जो देव मनुष्यं का अनुवाद है।), गीत-समुच्चय', विश्वंतर, बीरकुश और मणिचूड़ (बुद्ध-चरित आदि पर प्रकाश डालनेवाला ग्रंथ यह पाटन के बौद्ध भजनों में गाया जाता है।) प्रसिद्ध हैं।

(४) **स्वामी अभयानंद**—यह एक प्रसिद्ध कवि हो गए हैं। इन्होंने 'वेदांत संबंधी गीत' लिखा था, जिसे और लोग भजनों में गाया करते हैं।

(५) **कवि सिद्धिदास**—इन्होंने बहुत-सी रचनाएँ की हैं। संवत् १९७७ विक्रमी में इनका लिखा हुआ ग्रंथ 'नीति' और 'कर्म-शिक्षा-समुच्चय' प्रकाशित हुआ था। अप्रकाशित रचनाओं के नाम ये हैं—(१) मंग-विहंग, (२) सत्यसती, (३) सत्यमदन, (४) सनातन धर्म, (५) रामायण सातों कांड, (६) चाणक्य-नीति आदि। ये सभी ग्रंथ पद्यबद्ध हैं।

(६) **कविवर योगवीरसिंह**—यह एक सफल लेखक और कवि हैं। इनके द्वारा लिखित धर्मसार-माया, रानी मदिरायो विलाप, मृत्यु, बुद्ध-निर्वाण, मंजुश्रीया-स्तोत्र और नेपाल आदि पद्य तथा अनेक गीत बुद्ध-धर्म * नामक मासिक-पत्र (कलकत्ता) में प्रकाशित हो चुके हैं। धर्मपद (यमकवर्ग), उपासकपित, प्रवासिनी वसंत और गीत आदि इनकी अप्रकाशित रचनाएँ हैं।

(७) **पंडित निस्तानंद**—इनके द्वारा अनूदित 'ललितविस्तार' का इस समय तीसरा संशोधित संस्करण प्रकाशित हो रहा है, प्रथम मुद्रण संवत् १९७१ वि० में हुआ था। मनबोध, बोधिचर्यावतार, प्रज्ञापारमिता आदि भी इनकी रचनाएँ हैं।

(८) **अपरिमितानाम धारणी**—इस ग्रंथ का मुद्रण नेपाली संवत् १०३७ (ई० सन् १९१८) में हुआ था।

---

* आजकल प्रकाशन बंद है।

(९) कुबेररत्न बज्राचार्य—इन्होंने 'बुद्धोक्त संसारामय' को संस्कृत-पंथ में अनुवाद किया था। इनके द्वारा अनूदित ग्रंथ दान गाथा, बोधिचर्यावतार और भद्रचरि भी हैं।

(१०) मास्टर जगत सुंदर मल्ल—इनके 'शम्पं दश्रकारु बाख' का ई० सन् १९२३ में मुद्रण हुआ था।

(११) कविवर श्रीचित्तधर उपासक 'हृदय'—यह काठमाडू के तंछे टोल के रहनेवाले एक सुप्रसिद्ध कवि और लेखक हैं। इन्हें हिंदी-भाषा का भी पूरा ज्ञान है। इनकी कई एक कविताएँ हिंदी के मासिक पत्रों में भी प्रकाशित हो चुकी हैं। नेवारी-साहित्य, इतिहास और भाषा-शास्त्र के बहुत बड़े विद्वान हैं। नेवारी के वर्तमान कवियों में संभवतः इनके सदृश प्रौढ़ सुकवि दूसरा कोई नहीं है। इनकी कविताओं में काव्य-लालित्य और उपमा-उपमेय आदि के द्वारा भावों के व्यक्त करने की जो अभिव्यंजना पाई जाती है, वह कवि के चतुर्मुखी ज्ञान और काव्य-कला-चातुर्य को प्रकट करती है। उदाहरणार्थ यहाँ कवि के 'सुगत-सौरभ' महाकाव्य से एक पद्य उद्धृत किया जा रहा है—

[सिद्धार्थ के गृह-त्याग के पश्चात् एक दिन यशोधरा वाटिका में टहलकर वापस आती हुई पति के वियोग में किस प्रकार आँसू-भरे नेत्रों से राजभवन में प्रवेश करती है ? इसका वर्णन कवि इस प्रकार करता है—]

"हृदय-साले विरहया मी भुलया स्मृति-नू सियाः ;
दुःख-यंवां न्याक्क काकाः वःगु अश्रु चिकं तयाः।
नाथ दर्शन यांगु आशा-दीप च्याकाः पिलिपिलि ;
वँन व द्वाहाँ पालचा सम नयन जाकाः बिलिबिलि।"

विरहाग्नि में भून की स्मृति-रूपी सरसों को भूनकर, हृदय-रूपी

कोल्हू में दुःख रूपी बेंचा * में पेरकर निकाले हुए, अश्रु-तेल से मिट्टी की डिबिया के सदृश नयनों को लबालब भरकर, टिमटिमाते हुए दीप को जलाती हुई नाथ-दर्शन की आशा में भीतर गई।

श्रीहृदय द्वारा रचित पद्य-निकुंज, हृदय-कुसुम, हृदय-कथा, गौतम-बुद्ध, खुसु बाखंचा, कौमचा (भाग १), कौमचा (भाग २), हृनागा आदि ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं। अप्रकाशित ग्रंथों में सुगत-सौरभ (महाकाव्य), बभ्रुवाहन, अंतरध्वनि, हृनागा (दूसरा भाग), जिगु पुलांगु पद्य आदि उल्लेखनीय हैं।

(१२) रत्नध्वज—इनका 'नारद-मोह'-नामक कविता-ग्रंथ प्रकाशित हो चुका है। यह नेवारी-भाषा के एक प्रौढ़ लेखक और कवि हैं। इनकी रचनाएँ प्रायः पत्रों में प्रकाशित हुआ करती हैं।

(१३) कवि व्यथित—यह नेवारी-भाषा के एक तरुण और होनहार कवि हैं। अब तक इनके प्रतीक्षा, रश्मिस्याःगु म्ये और दिवस-चित्र-नामक ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं, तथा अभिसारिणी-नामक ग्रंथ शीघ्र ही प्रकाशित होने जा रहा है। कवि से अभी बहुत आशाएँ हैं।

(१४) ज्ञानरत्न वज्राचार्य—इनके द्वारा अनूदित ग्रंथ 'भद्रचरि' प्रकाशित हो चुका है।

(१५) आशाभिलाष—यह ग्रंथ स्वयम्भूपुराण का संक्षिप्त संस्करण है।

(१६) कवि धर्मरत्न 'यमि'—इनके विषय में मैं पहले बहुत कुछ लिख चुका हूँ। यह देश-प्रेमी, नव-जागृति की ओर अग्रसर होनेवाले नेवारी के एक प्रसिद्ध कवि, वक्ता और लेखक हैं। अपने क्रांतिकारी विचारों के कारण प्रायः कवि को नेपाल-सरकार के कारावास का अतिथि बना रहना पड़ता है। इनके लिखे हुए

---

* तेल पेरने की बड़ी लकड़ी।

'अर्हत् नंद' और 'विश्वंतर'-नामक दो प्रसिद्ध काव्य-ग्रंथ हैं। विश्वंतर के कुछ पद्य पहले उद्धृत किए जा चुके हैं, जिनसे पाठक कवि की रचना-शैली को भले प्रकार जान सकते हैं। कवि के 'अर्हत् नंद' काव्य के पद्य का भी एक नमूना देखिए—

> "अन्हु मखु अन्हु फुक व्याग: उबीमा ;
> धका: नन्दनं कला:म्ह लोता: ;
> बन्य धुंकल हं लिबाए - लिमा ;
> गयन ह्नुया: दाजुम्ह धर्म - लता ।"

एक-न-एक दिन सबको अलग होना ही पड़ेगा—ऐसा सोचकर अपनी स्त्री को छोड़, निर्वाण-सुख प्राप्त करने के लिये नंद भ्राता-रूपी धर्म-लता को पाकर चले गए हैं—ऐसा लोग कहते हैं।

(१७) **पूर्ण 'पथिक'**—यह नेवारी-भाषा के एक अच्छे लेखक हैं। इनकी लिखी हुई '[illegible]' नाम की बच्चों की पाठ्य-पुस्तिका प्रकाशित हो चुकी है।

(१८) **फत्तेबहादुरसिंह**—यह एक होनहार और अच्छे कवि हैं। इनकी लिखी हुई '[illegible]' नाम की कविता-पुस्तक प्रकाशित हो चुकी है।

(१९) **शुक्रराज शास्त्री**—यह नेवारी-भाषा के बहुत बड़े विद्वान् और वैयाकरणाचार्य थे, जिन्हें सन् १९४० में सार्वजनिक भाषण देने तथा महात्मा गांधी से मिलने के अपराध में काठमांडू शहर में आम सड़क के किनारे पेड़ की डाल से लटकाकर फाँसी दे दी गई! और यह होनहार विद्वान् नेवारी-साहित्य की सेवा से सर्वदा के लिये उठा लिए गए! इनके लिखे हुए 'नेपाल-भाषा-व्याकरण' और 'नेपाल-भाषा रीडर' सुप्रसिद्ध हैं।

(२०) **हृदयचंद्र सिंह प्रधान**—इनके लिखे हुए शुद्धाशुद्धया ताचा (शब्द-विचार) और चिह्न-परिचय प्रकाशित हो चुके हैं।

माला और कर्म-विभाग-नामक ग्रंथों को प्रकाशित किया है। इनका लिखा हुआ ग्रंथ 'गुणः' छप रहा है।

(२५) **भिक्षु अमृतानंद**—यह भी नेवारी-भाषा के एक तरुण लेखक हैं। इन्होंने प्रायः पाली-भाषा के ग्रंथों का नेवारी में अनुवाद ही किया है। अब तक इनके द्वारा लिखित और अनूदित गृह-विनय, धम्मपद, त्रिरत्न-वंदना, कर्म-विभाग, आर्य सत्य, धम्मपदट्ठकथा (प्रथम वर्ग), पाठ्य सूत्र और बुद्ध-जीवनी-नामक ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं। इनसे अभी बहुत कुछ आशा है।

(२६) **भिक्षु अनुरुद्ध**—इनके द्वारा अनूदित 'धर्मचक्र सूत्र' प्रकाशित हो चुका है। यह 'धर्मोदय' मासिक पत्र के प्रधान संपादक हैं। अब इनकी लेखनी उठी है। आशा है, भविष्य में यह नेवारी-साहित्य की पर्याप्त सेवा करेंगे।

(२७) **प्रज्ञाधन शाक्योपासक**—इन्होंने मेरे हिंदी-लोकनीति ग्रंथ का नेवारी-भाषा में अनुवाद किया है।

इन कवियों और लेखकों के अतिरिक्त नेपाल में नेवारी-भाषा के और भी बहुत-से कवि और लेखक विद्यमान हैं, जिनकी कृतियाँ अभी तक प्रकाश में नहीं आई हैं। यदि नेपाल का कोई साहित्य-प्रेमी इनकी रचनाओं के संबंध में विस्तृत विवरण के साथ एक क्रम-बद्ध वर्णन उपस्थित करे, तो नेवारी-साहित्य के आधुनिक निर्माताओं का परिचय आसानी से मिल सकेगा, और उससे नेवारी-साहित्य का बहुत बड़ा कल्याण होगा।

कुछ वर्ष पूर्व 'बुद्ध धर्म'-नामक नेवारी-भाषा का एक मासिक पत्र 'नेपाल-भाषा-साहित्य-मंडल', कलकत्ता से निकलता था, किंतु आजकल उसका प्रकाशन बंद है। सारनाथ से प्रकाशित होनेवाले 'धर्मदूत'-नामक हिंदी के मासिक पत्र में विगत सात वर्षों से आज तक नेवारी-भाषा के लेख, कविता और कथा कहानियाँ प्रकाशित

होती रही हैं। इस समय धर्मोदय सभा ने 'धर्मोदय'-नामक नेवारी-भाषा का एक मासिक पत्र प्रकाशित हो रहा है, जिससे नेवारी-साहित्य में नव-जाग्रति आ गई है; इतना होते हुए भी नेपाल-सरकार की दया-दृष्टि से नेवारी-साहित्य को अभी तक हम वंचित ही पा रहे हैं; कुछ वर्ष पूर्व तो नेपाल-सरकार ने भारतीय महाबोधि-सभा द्वारा प्रकाशित नेवारी के दो छोटे-छोटे ग्रंथों को बहुत दिनों तक रोक रखने के पश्चात् छोड़ा था। सरकार की दृष्टि में नेवारी-भाषा और साहित्य का उत्थान क्यों हानिकारक प्रतीत होता है, यह बात हमारी समझ में नहीं आती। नेपाली-साहित्यों में जब नेवारी-साहित्य ही सबसे महान् और सर्वांग-पूर्ण है, तो राज्य की ओर से इसे सब प्रकार की सहायता प्राप्त होनी चाहिए, और इस साहित्य पर किसी प्रकार का प्रतिबंध नहीं लगना चाहिए।

इधर 'नेपाल-भाषा-प्रचार-समिति' द्वारा नेवारी-साहित्य के ग्रंथों के प्रकाशन तथा प्रचार की विशेष सुविधा दी जा रही है। रातोदिन नए-नए ग्रंथ लिखे जा रहे हैं, तथा उनका प्रकाशन हो रहा है। 'धर्मोदय' सभा की ओर से प्रतिवर्ष अच्छे लेख तथा ग्रंथ लिखने-वाले लेखकों और कवियों को पुरस्कार भी दिया जाने लगा है। यदि इसी प्रकार नेवारी-भाषा के लेखकों को प्रोत्साहन मिलता रहा और इसका प्रचार-कार्य पूर्ववत् जारी रहा, तो निकट भविष्य में ही नेवारी-साहित्य हिंदी, बँगला आदि भारत के प्रमुख साहित्यों के सदृश विशेष उन्नति कर जायगा, और इसमें हर-एक प्रकार के ग्रंथ मिलने सुलभ हो जायँगे।

नेपाल के उत्सव

नेपाल एक विचित्र देश है, जहाँ प्रतिदिन कोई-न-कोई उत्सव मनाया जाता है, और हरएक उत्सव में सब लोग सम्मिलित होते हैं। आश्चर्य की बात तो यह है कि सब उत्सवों में सम्मिलित होने पर भी उनके खेती-गृहस्थी के कार्यों में किसी प्रकार की बाधा नहीं उत्पन्न होती और न नुक़सान ही होता है। नेपाल में २,७३३ उल्लेखनीय तीर्थ-क्षेत्र या मंदिर हैं, जहाँ उत्सव मनाए जाते हैं। सब उत्सवों का अपना अलग-अलग कथा-ग्रंथ है। पुस्तक-विस्तार के भय से उन्हें यहाँ नहीं दिया जा सकता। यदि भले प्रकार देखा जाय, तो नेपाल-वासियों के लगभग छ मास उत्सव में ही व्यतीत होते हैं।

नेपाल-देश के हिंदू लोगों के उत्सव प्रायः वे ही हैं, जो भारत-वर्ष में होते हैं। अतः मैं उन्हें छोड़कर केवल बौद्ध-उत्सवों का ही वर्णन यहाँ कर रहा हूँ।

(१) **वैशाख-पूर्णिमा**—वैशाख-पूर्णिमा को ही भगवान् बुद्ध का जन्म हुआ था, और उन्होंने सम्यक्संबोधि तथा महापरिनिर्वाण प्राप्त किया था, अतः उस पवित्र दिन की स्मृति में सारे नेपाल में महोत्सव मनाया जाता है। इस दिन सभी बौद्ध विहारों में जाकर भगवान् बुद्ध की पूजा करते और दान देते हैं। स्थान-स्थान पर उपदेश होते हैं, भजन गाए जाते हैं, तथा बुद्ध-मूर्ति का सम्मान किया जाता है।

(२) **मत्स्येंद्रनाथ-यात्रा**—यह उत्सव कांतिपुर में चैत्र शुक्ल अष्टमी और पाटन में वैशाख शुक्ल पंचमी को होता है। उत्सव के दिन मत्स्येंद्रनाथ की मूर्ति के चरणों पर राजा की तलवार को रखकर

पूजते हैं। पूजा के पश्चात् मूर्ति को एक सजे हुए रथ पर रखकर हाथ से खींचते हुए महाविहार के साथ ढोल-ढोल से ले जाते हैं।

(३) वज्रयोगिनि-यात्रा—यह उत्सव वैशाख शुक्ल ३ को होता है। इसे अक्षय तृतीया भी कहते हैं। इस देवी का मंदिर मणिचूड़-नामक पर्वत पर है। सब लोग बुद्ध-पूजा करते और दान आदि देते हैं।

(४) घंटाकर्ण (गठा मुग चह्ले)—घंटाकर्ण-नामक यक्ष को देश से निकाल देना ही इस उत्सव का अभिप्राय है। बंगाल में भी ऐसी कुछ प्रथा है कि घंटाकर्ण (घेंटू) की पूजा करने से गृहस्थ बालक-बालिकाओं के अनिष्ट रोग दूर हो जाते हैं। यह उत्सव श्रावण कृष्ण १४ को होता है। इस दिन नेवारी बालक तृण से एक राक्षस की मूर्ति बनाकर दिन-भर चौरस्ते पर रखते हैं, और जो लोग उस रास्ते से होकर गुज़रते हैं, सबसे पैसे माँगते हैं। संध्या को पोड़े (डोम)-जाति के एक आदमी को पाए हुए सब पैसे देकर उस मूर्ति को फेंकवा देते हैं। उस दिन सब समझते हैं कि उनके घरों से भूत निकल गए। पोड़े-जाति का आदमी जब उस मूर्ति को लेकर फेंकने जाता है, तो ज़ोर-ज़ोर से कहता जाता है—"हमारा बाप मर गया! हमारा बाप मर गया!!" लड़के भी पीछे से चिल्लाते हुए जाते हैं।

(५) वर्षावास—भिक्षुओं के वर्षावास की स्मृति में सब लोग श्रावण मास-भर धार्मिक कार्य करते और दान आदि देते हैं। धार्मिक ग्रंथों का पाठ विशेष रूप से होता है।

(६) पंचदान—श्रावण शुक्ल ८ और भाद्रपद कृष्ण १३ को सभी गृहस्थ शाक्य भिक्षुओं और वज्राचार्यों को नाना प्रकार के दान देते हैं। इस दिन सभी अपने-अपने घरों और दूकानों को पुष्प आदि से सजाते हैं। स्त्रियाँ चावल आदि अन्न लेकर द्वार पर बैठ जाती हैं। जब शाक्य भिक्षु और वज्राचार्य उनके द्वार पर आते हैं तब

उन्हें बहुत-सा अन्न देकर विदा करती हैं। यह उत्सव सारे नेपाल में मनाया जाता है।

(७) श्रावण-पूर्णिमा—इस दिन सभी चैत्यों की पूजा करने के लिये पैसे और चावल लेकर जाते हैं। सब विहार सजाए जाते हैं। लोग क्रमशः सब विहारों के दर्शनार्थ जाते हैं। इस दिन बहुत-से लोग गोसाईं थान की भी यात्रा करते हैं।

(८) मटिया—भाद्र कृष्ण २ को पाटन के १३०० चैत्यों की पूजा करने के लिये सब लोग बड़े उत्साह, प्रेम और भक्ति के साथ जाते हैं। एक चैत्य को एक-एक पैसा चढ़ाने पर भी १३) व्यय हो जाते हैं*। इस दिन निराहार रहकर चैत्यों की पूजा की जाती है।

(९) कार्तिक-सेवा—कार्तिक मास में स्वयंभू-चैत्य की प्रातः-काल पूजा की जाती है।

(१०) योमरी पुह्नी—मार्गशीर्ष की पूर्णिमा को चैत्य के आकार की रोटी बनाकर धान के ऊपर चार दिन तक रखते हैं। इसके बाद 'हमारे अन्न की रक्षा हो' यह कहकर सब बाँटकर उस रोटी को खा जाते हैं।

इन उत्सवों के अतिरिक्त नाथ-यात्रा, इंद्र-यात्रा, किन्ना-पूजा, माघी पूर्णिमा, लाखि-यात्रा, अमिताभ बुद्ध का उत्सव, स्वयंभू-मेला, मत्स्येंद्रनाथ की छोटी यात्रा आदि अनेक उत्सव मनाए जाते हैं। इन उत्सवों के अवसर पर नाच-गाना होता है, और मांस तथा मद्य खूब चलता है।

---

* नेपाली रुपया १०० पैसे का होता है।

नेवारी-जाति के दो संस्कार

नेपाल के हिंदुओं के प्रायः सभी संस्कार भारतवर्ष के हिंदुओं के समान ही होते हैं, किंतु बौद्धों के संस्कार हिंदू-संस्कारों से सर्वथा भिन्न होते हैं। मैं यहाँ तामंग, गुरुङ्, लिम्, श्यरुन आदि बौद्धों के संस्कारों को छोड़कर केवल नेवारी-जाति के दो संस्कारों का वर्णन करूँगा। इनके संस्कारों में प्रधान रूप से विवाह और अंत्येष्टि-संस्कार उल्लेखनीय है।

विवाह

नेपाल में बाल-विवाह और बहु-विवाह का चलन है। बचपन में ही मा-बाप पुत्र-पुत्रियों के विवाह कर देते हैं। साथ ही एक व्यक्ति अनेक स्त्रियों के साथ विवाह कर सकता है। नेपाल के हिंदू बहु-विवाह को अपना सम्मान-चिह्न समझते हैं। हिंदुओं में जिस प्रकार बहु-विवाह की रीति प्रबल है, उसी प्रकार विधवा-विवाह का बिलकुल निषेध है, किंतु नेवारों के यहाँ विधवा-विवाह बड़े शौक़ से होता है। जो कोई पुरुष किसी स्त्री के पतिव्रत धर्म को नष्ट करता है, तो उसे उस स्त्री का सारा व्यय देना होता है, और यदि वह नहीं देता, तो उसे कारागार भेज दिया जाता है। यह प्रथा बड़ी ही अच्छी और प्रशंसनीय है। इससे लोग प्रायः भयभीत रहा करते हैं।

नेवारी-जाति में कन्या के घरवाले वर को नहीं ढूँढ़ते, प्रत्युत वर के घरवाले ही कन्या को ढूँढ़ते और विवाह करने की चर्चा करते हैं। यद्यपि यह भारतवासियों के लिये आश्चर्य का विषय है, किंतु यथार्थ रूप से देखा जाय, तो यही प्रथा अच्छी है। भारत-वर्ष में कन्यावाले वर को ढूँढ़ते ढूँढ़ते परेशान हो जाते हैं। कितने

ही कन्यावाले आर्थाभाव के कारण समय पर अपनी कन्या का विवाह नहीं कर पाते। दहेज देने के लिये उन्हें रुपए नहीं मिलते तथा समय का अतिक्रमण हो जाने पर कन्याएँ अपना अस्तित्व खो बैठती हैं। यदि वरवालों को कन्या ढूँढ़ना पड़े, तो यह कठिनाई बिलकुल ही दूर हो जाय, जैसा कि नेपाल में है।

जब किसी लड़के के विवाह की चर्चा होती है, और कन्या भी देख ली जाती है, तब वर की ओर से कन्या की जन्म-पत्री लाने के लिये लर्थी (अगुआ) भेजा जाता है। वह कन्या के घर जाकर उसकी जन्म-पत्री लाता है, और वर-कन्या की जन्म-पत्रियों को मिलाकर भले प्रकार देखा जाता है। जब दोनों के लग्न और नक्षत्र ठीक-ठीक उतरते हैं, तब वर का पिता १० सुपारी एक बर्तन में रखकर लथी के हाथ कन्या की मा के पास भेजता है। उसे उत्तम-उत्तम भोजन खिलाया जाता है। लथी विवाह का दिन पक्का करके लौट आता है। इसके बाद वरवाले कन्या के घर 'लखा' (रोटी आदि का उपहार) भेजते हैं।

जब विवाह के चार दिन रह जाते हैं, तब पुनः वरवाले कन्या को पहनने के लिये सोने के कंगन लथी द्वारा कन्या के घर भेजते हैं। उसे पाकर कन्यावाले 'लखा' को अपने सब रिश्तेदारों में बाँट देते हैं, तथा सबको भोजन खिलाते हैं। भोजनोपरांत सभी कन्या के लिये बर्तन देते हैं। बर्तन देते समय 'लखा' के अंश पर विशेष ध्यान दिया जाता है। जो जितना अधिक लखा खाए रहता है, वह उतना ही अधिक बर्तन देता है। बर्तनों में थाली, लोटा, चम्मच आदि होते हैं।

विवाह के दिन वर के घर सब संबंधियों को भोजन खिलाया जाता है, और बाजे के साथ बिना वर के तीन-चार सौ आदमी जाते हैं, इसे बारात या जंटी कहते हैं। कन्या के घर पहुँचकर दोनों ओर से मसाला आदि खिलाया जाता है। कोई-कोई भोजन भी खिलाते

हैं। दस-पंद्रह लोगों को छोड़कर पीछे और सब लौट आते हैं। रात-भर नाच-गाना होता है। प्रातः कन्या को विदा कराने के लिये तीन बार कन्या के घर जाते हैं।

दो बार जानेवालों को ख़ूब खिला-पिलाकर वापस कर देते हैं, किंतु तीसरी बार कन्या अपने घर के सब लोगों को सुपारी देती है। सुपारी देते समय सबसे पीछे मा को सुपारी देती है। सुपारी पाते ही सब रोने लगते हैं। सुपारी के बाद कन्या को आभूषण पहनाए जाते हैं, जो सब सोने के होते हैं। उनके लिये कम-से-कम तीन-चार हजार रुपए व्यय होते हैं। तत्पश्चात् कन्या डोली में बैठाई जाती है। उसके ऊपर वर का पिता या बड़ा भाई छूफागा (पर्दा) लगाता है। कन्या के साथ अन्य भी दो लड़कियाँ जाती हैं।

घर से निकलने पर मार्ग में दोनो ओर के पुरोहित आते हैं। कन्यावालों का पुरोहित कन्या की ख़ूब प्रशंसा करता है, और वर का पुरोहित मज़ाक़ उड़ाता है। आगे चलकर थोड़ी देर के लिये कन्या को डोली को एक दूसरे घर में रखते हैं। वहाँ उसे भली भाँति ओढ़ा-पहनाकर फिर निकालते हैं। जो कुछ दहेज़ होता है, वह डोली के पीछे-पीछे चलता है।

वर के घर पहुँचकर, द्वार पर एक दरी बिछाकर उस पर कन्या को खड़ा कराते हैं। उस समय वर की मा लाल सुरा से उसके पैर धोकर, उसे कुंजी थम्हाकर घर-घर में प्रवेश कराती है। घर में जाने पर वर भी आता है, और दोनो एक जगह बैठाए जाते हैं, तथा विवाह-मंगल-कार्य प्रारंभ होता है। दोनों का सिर सटा दिया जाता है, और पाथी * में फल, लावा आदि रखकर उनके सिर पर तीन बार गिराया जाता है। इस क्रिया के समाप्त होने पर वर कन्या के सिर में

* २ रुपिया के बराबर का एक बर्तन

सिंदूर लगाता है। तत्पश्चात् सब रिश्तेदारों को भोजन खिलाया जाता है।

विवाह के चार दिन बाद कन्या का बाप और रिश्तेदार उसका मुँह देखने आते हैं, तथा उसे शराब, मिठाई, रुपए, वस्त्र आदि देते हैं, एवं उसी दिन कन्या को अपने घर ले जाते हैं। तत्पश्चात् कन्या-वाले वर को अपने घर बुलाते हैं। वहाँ दोनो के साथ मंगल करके एक साथ बिदा कर देते हैं।

उसके दो दिन बाद काठमाडू के विद्याधरी के मंदिर में वर और कन्या के साथ वर के मा-बाप तथा बारातवाले सब लोग आते हैं। वहाँ भोज खाते और पूजा करते हैं। पुनः दस-बारह दिन बाद सरस्वती के मंदिर में आते हैं, जो आनंदकुटी के पास ऊपर पहाड़ी पर है। वहाँ भी भोज देते तथा पूजा करते हैं। हमने प्रतिदिन दो-चार विवाह के बारातियों को खिलाते हुए देखा है।

अंत्येष्टि

नेपाल में मृतक को जलाने की प्रथा है। जब किसी की मृत्यु होती है, तब उसी समय वज्राचार्य (गुभाजू) को बुलाया जाता है। वह आकर मरे हुए व्यक्ति के लिये पूजा करके उसे घर से बाहर ले जाकर विमान बना उस पर रखकर ध्वजा-पताका, वस्त्र, पुष्प आदि से सजा देता है। तत्पश्चात् उसे लेकर बाजे के साथ कर्ण-दिप् (विष्णुमती-नदी के किनारे) जाते हैं। काठमाडू के आस-पास ऐसे बहुत-से 'दिप्,' हैं, किंतु काशी की 'मणिकर्णिका' के समान 'कर्ण-दिप्' ही सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। वहाँ जाकर पिंड-दान करते और चिता सजाते हैं। मृतक के सिर को स्वयंभू-चैत्य की दिशा में करके चिता पर रखते हैं। जब तक मृत शरीर जलकर राख नहीं हो जाता, तब तक नहीं खाते।

दूसरे दिन प्रातः वज्राचार्य आकर, दीप जलाकर धूप आदि जलाता

है। वहाँ घनिष्ठ लोग भी आकर बैठते हैं। वज्राचार्य दुर्गतिपरिशोधन श्लोक आदि पढ़ता है; जब सब लोग आ जाते हैं, तब "सभी संस्कार अनित्य हैं" आदि कहकर उपदेश देता तथा दक्षिणा लेकर चला जाता है।

तीसरे दिन एक थाली में रंगों के चूर्ण से बुद्ध-मूर्ति के साथ अपाय और सुखावती-भूमि बनाते हैं, तथा उनके बीच भगवान् की मूर्ति को रखकर पड़ी हुई रेखाओं से यह जानते हैं कि मृत व्यक्ति कहाँ उत्पन्न हुआ है।

सातवें दिन भात आदि भोजन बनाकर द्वार के सामने बाहर रखते हैं। उसे कपाली-जाति के आदमी आकर ले जाते हैं। दसवें दिन घर को परिशुद्ध करते हैं। बारहवें दिन जिस स्थान पर उस व्यक्ति की मृत्यु होती है, वहाँ हवन करते हैं। तेरहवें दिन अंत्येष्टि-क्रिया सब प्रकार से समाप्त हो जाती है, किंतु वर्ष-भर प्रतिमास में एक दिन नदी के किनारे किसी तीर्थ पर स्नान करके पिंड-दान करते और वज्राचार्यों को दक्षिणा देते हैं। पहले ऐसी प्रथा थी कि मा-बाप की मृत्यु होने पर वर्ष-भर श्वेत वस्त्र पहना जाता था, किंतु अब युद्धशमशेर राणा के आज्ञानुसार तेरहवें दिन तक ही श्वेत वस्त्र पहना जाता है।

वज्राचार्यों और शाक्य भिक्षुओं की अंत्येष्टि-क्रिया सातवें दिन ही समाप्त हो जाती है।

जब कोई विशेष धनी आदमी मरता है, तब उसे मरते ही पालथी लगाकर बैठा देते हैं। श्वेत वस्त्र पहनाकर बाँध देते हैं। सिर पर पाँच बुद्धों के चित्रों से युक्त मुकुट रखते हैं। तत्पश्चात् उसे एक घर में ले जाते हैं। वहाँ वज्राचार्य और दीक्षित व्यक्ति ही जा सकते हैं।

वहाँ से उसे पालथी लगाए हुए ही विमान पर बैठाकर श्मशान ले

जाते हैं। पीछे-पीछे संबंधी रोते जाते हैं, और वज्राचार्य आगे-आगे मंत्र पढ़ता हुआ चलता है। मृतक को चिता पर बैठाते समय स्वयंभू-चैत्य की ओर मुँह करके रखते हैं। जिन लोगों को इस प्रकार जलाते हैं, उनकी अस्थियों को लेकर पीछे चैत्य का भी निर्माण करते हैं। किसी-किसी की अस्थियाँ नदी में बहा भी दी जाती हैं।

ज्वालामुखी के पथ पर

खास नेपाल से प्रस्थान

बचपन से मैं मुक्तिनाथ का नाम सुना करता था। प्रतिवर्ष वहाँ से आनेवाले यात्रियों को देख-देखकर मुक्तिनाथ के दर्शन की इच्छा होती थी। जब मैं नेपाल के प्रायः सब प्रधान स्थानों को देख चुका, तब मुक्तिनाथ की याद आई। धम्मालोकजी से ज्ञात हुआ कि मुक्तिनाथ में एक ज्वालामुखी भी है, जिसे हिंदू लोग ज्वालामाई कहते हैं। और प्रतिवर्ष बहुत-से हिंदू साधु ज्वालामाई का दर्शन करने जाते हैं। धम्मालोकजी भी वहाँ एक बार जा चुके हैं। पूछने पर यह भी ज्ञात हुआ कि वह काठमांडू से लगभग २०० मील दूर है। जाने का मार्ग दुर्गम और दुर्लंघ्य है। बड़ी कठिनाई से लोग वहाँ जाते हैं। अनेक उच्च पर्वत-शिखरों को लाँघकर वहाँ जाना पड़ता है। ठंडक भी इतनी होती है कि पर्याप्त वस्त्र न होने पर लोग ठंडे पड़ जाते हैं। मार्ग में बड़े ज़ोरों की वायु चलती है, जिसमें पत्थर के टुकड़े भी उड़ते हैं। बालू से आँख-मुँह भर जाते हैं।

इन सब बातों को सुनकर मैं मुक्तिनाथ और ज्वालामुखी के लिये उत्सुक हो गया। धम्मालोकजी आदि नेपाल के मेरे बहुत-से मित्रों तथा उपासकों के मना करने पर भी मैं ज्वालामुखी के दर्शन का संकल्प नहीं छोड़ सका।

मुक्तिनाथ जाने के लिये एक विश्वस्त भरिया की ज़रूरत थी, जो सामान भी ढोता और भोजन भी बनाकर खिलाता। साहु द्वारकादास के प्रयत्न से एक बौद्ध-गृहस्थ प्रसन्नता-पूर्वक मेरे साथ चलने को

तैयार हो गया। उसे पाकर मुझे विशेष प्रसन्नता हुई, क्योंकि वह हिंदी भली भाँति जानता था, और था श्रद्धालु, मेहनती तथा सरल स्वभाव का। चश्मा, जूता, मोज़ा, डंडा, ऊनी कोट, गर्म मसाला, वेसलीन मोमबत्ती, टॉर्च आदि अनेक वस्तुओं की आवश्यकता थी। बिना इन वस्तुओं के मुक्तिनाथ जाना कठिन है। अतः इनका प्रबंध आनंद-कुटी के प्रधान उपासक साहु द्वारकादास, साहु पूर्णमान और साहु लोकारत्न ने कर दिया। ये तीनों उपासक आगंतुक भिक्षुओं की सेवा के लिये सदा तैयार रहते हैं। इन्होंने ही नेपाल के आधुनिक भिक्षुओं के रहने का सारा प्रबंध किया है। इनके कार्य प्रशंसनीय और अनुकरणीय हैं।

द्वारकादास ने एक खाली टीन का बक्स बनाकर उसमें खाने-पीने की आवश्यक सामग्री और भोजन बनाने के बर्तन आदि रखकर सब मार्गोपकरण ठीक कर दिया।

२५ मार्च को फाल्गुन-पूर्णिमा थी। नेपाल में होली मनाई जा रही थी। होली में केवल हिंदू ही भाग लेते थे। कोई भी बौद्ध बालक होलिकोत्सव में सम्मिलित हुआ नहीं दीखता था। यहाँ की होली अपेक्षाकृत भारत से शिष्टता-पूर्वक मनाई जाती है। उस दिन आनंद-कुटी में मेरे विशेष रूप से उपदेश की व्यवस्था की गई थी। भिक्षु प्रज्ञा-रश्मि, भिक्षु बुद्धघोष आदि भी आए हुए थे। उपासक-उपासिकाओं की काफ़ी भीड़ थी। आज के दिन लोग विशेषकर मुझसे मिलने आ रहे थे, क्योंकि दूसरे ही दिन मुझे यहाँ से मुक्तिनाथ के लिये प्रस्थान करना था। श्रीरामलाल उपासक से मिलकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। मैंने नेपाल के बौद्ध गृहस्थों में इन्हीं को ऐसा पाया, जो अभिधर्म को भली भाँति जानते थे। आचार्य अनुरुद्ध का 'अभिधम्मत्थसंगहो' इन्हें सारा कंठस्थ था।

२६ मार्च को मोतीलक्ष्मी के घर का दान था, जो आनंदकुटी

में ही तैयार किया गया था। आज काठमांडू की सभी प्रमुख उपासक-उपासिकाएँ आई हुई थीं। भोजनोपरांत प्रस्थान करना तय हुआ था। हमारी यात्रा के साथी धम्मालोकजी भी मंगु बाज़ार तक चलने को तैयार हो गए। वह सुविनाथ भी जाना चाहते थे, किंतु निर्बलता के कारण वैसा नहीं कर सके।

भोजन के पश्चात् १२ बजे भरिया के साथ हम दोनों आनंदकुटी से चल पड़े। लगभग एक मील तक हमारे साथ-साथ उपासक, उपासिकाएँ, भिक्षु तथा अनागारिकाएँ गईं। सब प्रत्याशा-युक्त नेत्रों से हमें देख रहे थे। हम लोग धीरे-धीरे विदाई लेते आगे बढ़ रहे थे। उस समय का दृश्य धार्मिक भावना से ओत-प्रोत विश्वबंधुत्व का पाठ पढ़ा रहा था।

काठमांडू से मंगु बाज़ार २० मील दूर उत्तर-पश्चिम है। मार्ग में अनेक पहाड़ियों पर चढ़ना-उतरना पड़ता है, अतः दोपहर से संध्या तक वहाँ पहुँचना संभव न था। आज की रात हम लोगों ने काठमांडू से ६ मील दूर 'बसनियाल पौवा'-नामक गाँव में एक बौद्ध-गृहस्थ के घर विश्राम किया, और दूसरे दिन प्रातः जल-पान करके चल दिए।

बसनियाल पौवा से आगे नेपाल-उपत्यका की सर्दी जाती रहती है। गर्मी प्रारंभ होती है। दस बजे हम लोगों ने 'धारेपानी' में पहुँचकर भोजन किया, और थोड़ा विश्राम करके चल दिए। वहाँ से 'थारे'-नामक नदी को कभी इस पार और कभी उस पार तथा कभी बीच से जाना पड़ता है। वहाँ से थोड़ी दूर चलने पर 'तादी'-नदी मिली। यह नदी कुछ बड़ी है। बरसात में इसमें नावें चलती हैं। इस समय इसमें जाँघ-भर पानी था। पानी बहुत शीतल था, और धार बड़ी तेज़ थी। पानी में चलते समय कभी-कभी पैर भी उठ जाता था।

गर्म प्रदेश होने के कारण इधर सब प्रकार के वृक्ष मिलते हैं।

आम, आलू, कदम, अमरूद आदि सर्वत्र दीखते हैं। हम लोग तादी को पार कर सुख-पूर्वक चलते हुए चार बजे सागु बाज़ार पहुँच गए।

सागु बाजार

सागु बाज़ार त्रिशूली-नदी के दाएँ किनारे पर बसा है। कुछ दूकानें बाएँ किनारे पर भी हैं। इसे त्रिशूली बाज़ार के नाम से पुकारा जाता है। इस क़स्बे में कुल ढाई सौ घर हैं, जिनमें दस-पंद्रह घर मुसलमानों के, तीस बौद्धों के और शेष हिंदुओं के हैं। क़स्बा परिशुद्ध और ख़ूब घना बसा हुआ है। नेपाल तिब्बत और पोखरा आदि के प्रधान व्यापार-मार्ग में स्थित है। प्राचीन काल में यहीं से त्रिशूली-नदी के किनारे-किनारे तिब्बत जाया जाता था। अब भी लाखों व्यापारी जाते-आते हैं। आजकल यहाँ व्यापार के प्रायः सभी सामान कालिपुर से ही आते हैं। बाज़ार छोटा, किंतु महत्त्व-पूर्ण है। क़स्बे में एक गोरखाली-भाषा का स्कूल और पोस्ट ऑफ़िस है। त्रिशूली-नदी गंडक की एक प्रमुख सहायक नदी है, जो भोट से आती है। सागु-वासी त्रिशूली-नदी का ही पानी पीते हैं। नदी का पानी परिशुद्ध और शीतल है। नदी के ऊपर एक सुंदर तार का बना हुआ पुल है। यहाँ सदा पुलिस की चौकी रहती है। जब कोई विदेशी इस रास्ते से आता-जाता हुआ मिलता है, तब उसकी जाँच की जाती है, और रह-दानी देखी जाती है। किंतु जिस समय मैं पुल से गुज़रकर पार गया, पुलिस नहीं थी। पास ही एक पौवा (छोटी धर्मशाला) में कोई अनाथ व्यक्ति मरा पड़ा था, वह उसे उठवाने में लगी थी।

सागु बाज़ार से गोसाँईंथान ५० मील दूर पड़ता है। जो गोसाँईं-थान जाना चाहते हैं, वे यहीं से जाते हैं। यहाँ से गोसाँईंथान जाने में चार दिन लगते हैं। गोसाँईंथान में श्रावण-पूर्णिमा और ज्येष्ठ शुक्ल १० (दशहरा) को मेला होता है। गोसाँईंथान में एक बहुत बड़ा सरोवर है, जिसमें स्नान किया जाता है। सरोवर के बीच में

एक गोल पत्थर है, जो प्रत्येक कोने से देखने पर समीप ज्ञात पड़ता है। इस पत्थर को अंध-श्रद्धालु लोग जलशायी महादेव कहते हैं। गोसाँईथान जाते समय २ मील पूर्व 'लकड़ी-विनायक'-नामक एक स्थान पड़ता है। सभी यात्री वहाँ एक-एक लकड़ी चढ़ाते हैं। वहाँ से ऊपर की ओर पर्वतीय वृक्षों की सुगंधित वायु आती है, जिससे प्रायः यात्रियों का सिर चकराने लगता है। आँखों से कम दिखाई देने लगता है। बहुत-से यात्री वहीं से लौट आते हैं। कहते हैं, जब यात्री गोसाँईथान के मंदिर में स्नान करते हैं, तब सारा रोग दूर हो जाता है। मेरी वहाँ जाने की प्रबल इच्छा थी, किंतु असमय और समयाभाव के कारण नहीं जा सका।

सांगु बाज़ार से पूर्व त्रिशूली-नदी से पार १ मील पर नुवाकोट-नामक इस इलाक़े की प्राचीन राजधानी है। अब भी 'पश्चिम १ नंबर इलाक़ा' का यही सदर मुक़ाम है। पृथ्वीनारायण शाह ने अठारहवीं शताब्दी के प्रथम पाद में जगज्जयमल्ल को परास्त करके इसे अपने अधिकार में कर लिया था। तब से नुवाकोट राजधानी उजाड़ हो गई। यहाँ न्यायालय, थाना, गोस्वारा, माल-अदालत और फ़ौजी छावनी है। यहाँ सदा ५०० सैनिक रहते हैं। नुवाकोट पर्वत के ऊपर बसा हुआ है। सांगु बाज़ार से वहाँ की इमारतें दिखाई देती हैं। कहते हैं, अशोक सम्राट् का बनवाया हुआ वहाँ भी एक प्राचीन चैत्य है, जहाँ बौद्ध गृहस्थ प्रायः पूजा करने जाया करते हैं।

सांगु बाज़ार के पास पश्चिम ओर श्री ३ सरकार की एक सुंदर आम्र-वाटिका है, जिसमें बड़ी सुंदरता के साथ लगाए हुए ७०० आम के वृक्ष हैं। इस वाटिका में लीची, गुलजामुन आदि के भी वृक्ष हैं। अनन्नास के पौधे जंगल की भाँति लगे हुए हैं।

प्राचीन काल में सांगु में कई एक विहार थे, किंतु इस समय विहार

के अभाव से आए हुए भिक्षुओं को बौद्ध गृहस्थों के घर ही रहना पड़ता है। हम लोग गजरत्न उपासक के घर गए। यह धम्मालोकजी के पूर्व परिचित उपासक हैं। जाने पर ज्ञात हुआ कि सांगु का जो धर्मरत्न मेरे साथ नमोबुद्ध गया था, वह गजरत्न उपासक का ही पुत्र है। पीछे वह भी मिला। इन भक्त उपासकों ने हम लोगों की बड़ी खातिरदारी की, और प्रेम-पूर्वक अपने घर की तीसरी मंज़िल में हमारे रहने का प्रबंध किया।

सागु बाज़ार के उपासकों के प्रयत्न से अब एक नवीन विहार बनने जा रहा है। भूमि ली जा चुकी है। ईंटें और पत्थर लाए जा रहे हैं। भिक्षु धम्मालोकजी वस्तुतः इसी काम से सागु तक मेरे साथ आए।

दूसरे दिन प्रातः जल-पान करके मैं त्रिशूली-नदी देखने गया। नदी के परिशुद्ध और शीतल जल को इस गर्म प्रदेश में पाकर आज २६ दिनों के पश्चात् साबुन लगाकर भले प्रकार स्नान किया। नेपाल-उपत्यका में शीतलता के कारण स्नान नहीं कर सका था। हाँ, चीवर और अंतर्वासक को तो हर तीसरे दिन साफ़ करा लेता था, क्योंकि नेपाल में रहते समय वस्त्रों में इतने शीघ्र चीलर पड़ जाते थे कि तीसरे दिन देखने पर सारा वस्त्र चीलरों से सफ़ेद दिखाई देता था। दिन में उनसे कोई विशेष कष्ट नहीं होता, किंतु रात में सोना मुश्किल हो जाता था।

हमारे पास सामान अधिक हो गया था। एक भरिया को उतना सामान लेकर चलना कठिन हो रहा था। अतः एक और भरिया खोजवाने लगा, किंतु संध्या तक कोई भरिया नहीं मिला। दूसरे दिन खोजते हुए तीसरे पहर में एक भरिया मिला, जो बड़ा हँसमुख और सरल स्वभाव का था। टूटी-फूटी हिंदी भी बोल लेता था। उसे प्रतिदिन बारह आने और भोजन देना तय हुआ। आज

आगे की यात्रा के लिये चावल, दाल, चिउरा (चर्जी), चाकु (गुड़) आदि ख़रीद लिए गए। रात्रि में आठ बजे से दस बजे तक मैंने उपदेश दिया। उपदेश सुनने के लिये सभी बौद्ध गृहस्थ और स्कूल-अध्यापक आदि आए हुए थे।

एक बालक का अपूर्व हठ

३० मार्च को प्रातःकाल जल-पान करके भरियों के साथ मैंने सांगु बाज़ार में प्रस्थान किया। धम्मालोकजी के साथ ग्राम-वासी बहुत-से उपासक आधे मील तक मेरी बिदाई के लिये गए। मैंने भदंत धम्मालोकजी को प्रणाम किया, और सबको आशीर्वाद देकर आगे बढ़ा।

अभी हम लोग तीन मील दूर गए थे कि पीछे से दौड़ता हुआ धर्मरत्न आया। उसने कहा, उसका छोटा भाई भी मेरे साथ भारत जाने को तैयार है। उसे लेकर धम्मालोकजी तथा मा-बाप आ रहे हैं। मैं उसकी बातों को सुनकर आश्चर्य में पड़ गया, और सोचने लगा कि इतना छोटा बालक मेरे साथ इन दुर्गम पहाड़ियों को कैसे लाँघेगा, तथा किस प्रकार भारत तक पहुँचेगा। मैंने धर्मरत्न से कहा, वह लौट जाय, और उन लोगों से कह दे कि मेरे साथ चलने में बालक को बहुत कष्ट होगा। किंतु उसने बतलाया कि उसका छोटा भाई मेरे ही साथ भारत जाना और मेरे ही पास रहना भी चाहता है। कल से ही वह मा-बाप से हठ कर रहा है कि उसे 'अक्षर-सीखने' (पढ़ने) के लिये मेरे साथ भारत जाने का प्रबंध कर दें। यदि वे ऐसा नहीं करेंगे, तो वह किसी दिन घर से अकेले निकल पड़ेगा। मा-बाप ने उसे बहुत समझाया कि जब कोई भारत जायगा, तो कांतिपुर के रास्ते उसे भारत (मेरे पास) भेज देंगे, किंतु उसने अपने हठ को नहीं छोड़ा। विवश होकर वे उसे लेकर आ रहे हैं।

मैं भरियों के साथ वहीं बैठ गया। लगभग एक घंटे बाद उस बालक के साथ धम्मालोकजी और गजरत्न उपासक आए। मां भोजन बनाने के लिये साथ में ही घर लौट गई थी। अब दस बज रहे थे, अतः यहीं भोजन बनाने का प्रबंध हुआ।

मैंने धम्मालोकजी से पूछा—"यह छोटा बालक मेरे साथ कैसे इस लंबी यात्रा में चल सकेगा?"

"यह चलने में बड़ा तेज है, जिस मार्ग से हम लोग दो दिन में कांतिपुर से मांगु जाते हैं, उसी से यह अकेले सबेरे चलकर शाम को पाटन पहुँच जाता है।"

"इसका नाम क्या है?"

"रविरत्न।"

"क्या हिंदी जानता है?"

"नहीं।"

"तो बातचीत कैसे करेंगे? कैसे जानेंगे कि इसे क्या सुख-दुख है?"

"मार्ग में भरियों से काम चल जायगा, क्योंकि नेवारी इसकी मातृभाषा है, और गोरखाली भी अच्छी तरह जानता है। आपके साथ रहकर थोड़े दिनों में हिंदी सीख लेगा।"

मैंने रविरत्न से भी बहुत पूछा, किंतु वह केवल हँसता ही था, मुझसे कुछ नहीं कहता था। इससे पूर्व उससे मैंने कभी बातें भी न की थीं। गजरत्न उपासक ने रविरत्न को मुझे सौंपते हुए कहा—"भंते! यह मेरा प्यारा पुत्र पूर्व-जन्म के संस्कारों के प्रबल होने से आपके साथ ही जाना चाहता है। यद्यपि मैं जानता हूँ कि इसे आपके साथ जाने में कष्ट होगा, क्योंकि आपको मुक्तिनाथ तक जाना है। किंतु भंते! इसे आप अपने पुत्र-तुल्य मानिएगा। यह आपकी सेवा करेगा, और आपके पास पढ़ेगा। हम लोग थोड़ी-बहुत सहायता करते रहेंगे।"

मैं 'रवि' के अपूर्व हठ और धम्मालोकजी तथा गजरत्न उपासक के आग्रह के विरुद्ध नहीं कर सका, क्योंकि 'रवि' की मुझ पर स्वभावतः बलवती श्रद्धा हो गई थी, और धम्मालोकजी मेरे बहुत बड़े उपकारक थे, तथा गजरत्न उपासक का मैं दो दिन तक आतिथ्य-सत्कार ग्रहण कर चुका था।

भोजनोपरांत उन्हें विदा करके हम लोग आगे बढ़े। संध्या को साढ़े छ बजे 'कर्टेजा'-नामक बाज़ार में पहुँचे, जो सांगु बाज़ार से १३ मील है। रात में जब भरिया अपने लिये खाना बना
और मैं बिस्तरे पर लेटा हुआ डायरी लिख रहा था, तब 'रवि' मेरे पास से एक ग्रंथ लेकर पढ़ता हुआ बोल उठा—"भंते! लंका क्या है?" मैं उसे हिंदी में पूछते हुए देखकर आश्चर्य-चकित रह गया। मैंने उसे लंका के संबंध में भले प्रकार समझा दिया कि वह हिंदुस्थान के दक्षिण में समुद्र के बीच एक टापू है। अब मुझे भले प्रकार ज्ञात हो गया कि 'रवि' टूटी-फूटी हिंदी भी बोल सकता है। मैंने पूछा—

"तुमने हिंदी कैसे सीखी?"

"भरियों और गोरखों से बातचीत करके।"

"क्या हिंदी की कोई किताब भी पढ़ी है?"

"हाँ, आपकी लोकनीति पढ़ी है।"

यह सुनकर मुझे और भी आश्चर्य हुआ। मैंने पूछा—

"कहाँ और किसके पास पढ़ी?"

"पाटन में, बुद्धघोष भंते के पास।"

"क्या और भी कोई किताब तुमने पढ़ी?"

"हाँ, आपके ब्राह्मणधम्मियसुत्त को दे खाथा।"

"ब्राह्मणधम्मियसुत्त तुझे कहाँ से मिला?"

"मेरे बड़े भाई कांतिपुर लाएसे थे।"

"क्या तुम पालो भी कुछ जानते हो ?"

"हाँ, त्रिरत्न-वंदना, रत्नसुत्त और लोकनीति की कुछ गाथाओं को जानता हूँ।"

"त्रिरत्न-वंदना सुनाओ।"

नवित्त ने त्रिरत्न-वंदना भली प्रकार सुनाई। मुझे इस दस वर्षीय बालक की शिक्षा के लिये प्रबल उत्कंठा और अपने साथ चलने का अपूर्व हठ देखकर महान् आश्चर्य हुआ।

पोखरा की यात्रा

दूसरे दिन प्रातः उठकर चाय पी, चिउरा खाया और कटेजा से चल दिए। आज प्रातःकालीन दृश्य बड़ा ही मनोरम था। उत्तर दिशा में हिमाच्छादित पर्वतों के उत्तुंग शिखर दीख रहे थे। चारों ओर पर्वत-शृंखला फैली हुई थी। उनके ढालो पर कहीं-कहीं दो-चार घर बने हुए थे।

हम लोग पहाड़ियों पर चढ़ते-उतरते हासी बाज़ार पहुँचे, और वहीं भोजन किया। सब सामान अपने पास था। काठमांडू से आया हुआ भरिया, जिसका नाम आस्मा था, भोजन बनाता तथा दूसरा सहयोग देता। वहाँ से चलकर जब हम लोग बूढ़ी गंडक के किनारे आरूघाट-नामक बाज़ार में पहुँचे, तब बड़े ज़ोरों से पानी बरसने लगा। अतः वहाँ थोड़ी देर रुककर २ मील और आगे जाकर एक सोते के किनारे बनी हुई झोपड़ी में रह गए। इन दिनों सागु बाज़ार से पोखरा तक सर्वत्र मार्ग में नई-नई झोपड़ियाँ बनी रहती हैं, जिनमें पथिक विश्राम करते हैं। जो जिस झोपड़ी में रहता है, उसे उस झोपड़ीवाले के ही चावल आदि लेने पड़ते हैं। जो उनके चावल आदि नहीं लेते, उन्हें रहने के लिये झोपड़ियाँ भी नहीं मिलतीं। आज हम लोग कटेआ से १४ मील आए थे। आगे बढ़ने का विचार था, किंतु पानी बरसने के कारण रात वहीं बिताई।

पहली एप्रिल का सूर्य निकला। हम लोग जल-पान करके चल दिए। ८ मील चलकर नौमेल में भोजन किया। आज प्रातःकाल बदली थी। बूँदें भी पड़ रही थीं। हमें डर था कि वर्षा न होने लगे,

किंतु सौभाग्य-वश पानी नहीं बरसा। पर्वतीय दृश्यों को देखते और पर्वत की चढ़ाई-उतराई तय करते हुए संध्या को छ बजे बारा-बिरके-नामक बाज़ार में पहुँचे, जो भीमेल से १२ मील है। आज हम सब लोग खूब थक गए थे। बेचारा छोटा-सा बालक रविरत्न थकावट से क्लांत हो गया था। मैंने भरियों से कहकर उसके पैर गर्म पानी में धुलवाए, और नाना प्रकार की बातों में उसे भुलाए रक्खा। रात में खूब पानी बरसा।

दूसरे दिन वहाँ से चलकर दोपहर में मानेचौका पहुँचे, जो बारा-बिरके से १२ मील है। मार्ग में नदी का पुल पार करने के बाद रास्ता भूल जाने के कारण एक मील दूसरी ओर चले गए, जिससे मानेचौका पहुँचने में देर हो गई। वहाँ से चलकर सात बजे रात में सीसा-घाट पहुँचे। सीसा-घाट मानेचौका से १० मील है। रात्रि में वहीं विश्राम किया।

तीसरी एप्रिल को प्रातःकाल सीसा-घाट में जल-पान करके हम लोग पोखरा के लिये चल दिए। यहाँ से पोखरा १६ मील है। मार्ग में दस बजे 'देउराली की फेरी' में भोजन करके पोखरा इलाक़े के खुले मैदान में चलते हुए साढ़े चार बजे पोखरा के बौद्ध विहार में पहुँच गए।

विहार-वासियों को मेरे आने का पता पहले से ही था। काठमांडू और कुशीनगर से कई पत्र उनके पास आ चुके थे। मुझे देखते ही भदंत शाक्यानंद आए, और प्रसन्नता-पूर्वक विहार में ले गए। बहन धर्मशीला और संघमित्रा से मिलकर हमें हार्दिक प्रसन्नता हुई। ये सब लोग हमारे गुरुभाई तथा पूर्ण परिचित थे। हम लोग ज्यों ही विहार में पहुँच हाथ-पैर धोकर बैठे, वैसे ही ओले पड़ने शुरू हुए। देखते-देखते सारा भूतल ओलों से पट गया। यदि हम लोग मार्ग में होते, तो हमारी क्या गति होती ?

कुशल-क्षेम पूछने और ग्लान-प्रत्यय पीने के बाद भारत से आए

हुए अपने पत्रों को देखने लगा। वैद्यराज का पत्र पढ़कर मुझे विशेष चिंता हुई, जिसमें उसने लिखा था कि 'वह मैट्रिक की परीक्षा में प्रश्न-पत्रों का उत्तर ठीक-ठीक नहीं लिख सका है, और उसके अनुत्तीर्ण होने की पूरी आशा है।' साथ ही उसका यह भी कहना है कि 'यदि वह अनुत्तीर्ण हुआ, तो मुझे अपना मुँह नहीं दिखाएगा।' मैंने उसी क्षण उसे समझाकर पत्र लिखा कि 'वह अनुत्तीर्ण होने से न डरे, तथा अगले वर्ष के लिये पूरी तैयारी करे।' परीक्षा भी ऐसी बला है, जिसमें कितने ही तरुण प्रतिवर्ष असफल होकर अपनी जान खो बैठते हैं!

× × ×

पोखरा मारे गंडकी प्रदेश का बड़ा बाज़ार है। यह श्वेत गंडक के दाएँ किनारे पर बसा हुआ है। चारों ओर पर्वतों से घिरे हुए विस्तृत मैदान में स्थित यह नगर प्राकृतिक सौंदर्य का केंद्र है। यहाँ से उत्तर की ओर हिमाच्छादित खैरा और धौलागिरि की मनोहर चोटियाँ सदा दीख पड़ती हैं। आम, कटहल अनन्नास, संतरा, पपीता, केला, नासपाती और अनार के फल-वृक्षों से भरा हुआ यह प्रदेश बड़ा ही भला जान पड़ता है। चारों ओर और घर-घर संतरे के बगीचे हैं। जाड़े के दिनों में यहाँ संतरा खूब होता है, जो गोरखपुर आदि भारत के नगरों को भी भेजा जाता है। पोखरा के पास का 'करकी-कोट' संतरे के लिये बहुत प्रसिद्ध है। इस प्रदेश के फैले हुए भाग में—जो 'देउराली को पेरी' से स्वीखेत तक २२ मील लंबा और लगभग ८ मील चौड़ा है—मक्का और धान की खेती विशेष रूप से होती है।

नगर में अच्छे-अच्छे कपड़े और कंबल आदि बनते हैं। चर्खा, करघा घर-घर चलते हैं। यहाँ तिब्बत तक के व्यापारी आते हैं। यह तिब्बत के प्राचीन व्यापार-पथ पर स्थित है।

नगर की पश्चिम दिशा में 'फेवा' नाम का एक सुंदर और बहुत बड़ा ताल है। संभवतः इस ताल के ही कारण इस नगर का नाम पोखरा पड़ा है। यहाँ संस्कृत-पाठशाला, पोस्टऑफ़िस, फ़ौजी छावनी, अपील-अदालत और राज्य-तहसील है।

पोखरा में बौद्धों की जन-संख्या लगभग ६०० है। ऐसे बहुत लोग हैं, जो वज्राचार्य के अभाव में हिंदू हो गए हैं, फिर भी उनके प्रायः सभी कार्य परंपरा में बौद्धों की भाँति ही होते हैं। इनमें प्रधानतः 'छिपा' (रँगरेज़) और 'प्रधान' लोग उल्लेखनीय हैं। गृहस्थों को भारतीय संस्कृति के अनुसार हरएक संस्कार के लिये पुरोहित की आवश्यकता होती है। यहाँ के बौद्धों को जब भिक्षु या वज्राचार्य नहीं मिले, तब वे ब्राह्मणों से अपने सब संस्कार कराने लगे, और ब्राह्मणों के संसर्ग में आकर अधिकांश नेवारी-जाति के भी बौद्ध हिंदू हो गए।

प्राचीन समय में यहाँ अनेक चैत्य और विहार थे। अब भी एक प्राचीन बुद्ध-मंदिर विद्यमान है, किंतु बहुत काल तक जनता द्वारा उपेक्षित पड़े रहने के कारण वह जीर्ण-शीर्ण पड़ा है।

संप्रति पोखरा में एक ही पास आमने-सामने बहन अनागारिकाओं के बनवाए हुए बुद्ध-विहार और आनंद-भवन-नामक दो विहार हैं। हम लोग बुद्ध-विहार में ही ठहरे हुए थे। आनंद-भवन इस समय खाली था। यों तो दोनो विहार सुंदर और रमणीय हैं, दोनो एक आकृति के बने हैं, किंतु धार्मिक कार्य विशेष रूप से बुद्ध-विहार में ही होते हैं। अष्टमी, अमावस्या और पूर्णिमा को नगर की उपासक-उपासिकाएँ विहार में आतीं और पंचशील, अष्टशील आदि लेकर उपोशथ व्रत रहती हैं। मैंने पोखरा में ही ऐसे लोगों को देखा, जो हिंदू होते हुए भी पंचशील, अष्टशील आदि व्रत का पालन करते हैं। हिंदू-कन्याएँ, जिनके मा-बाप कट्टर सनातनी हैं, धर्मशीला

आदि के प्रयत्न से बौद्ध हो गई हैं। नगरवासी अनागारिका धर्मशीला को 'गुरु जू' कहकर संबोधित करते हैं, और उस पर बहुत प्रगाढ़ श्रद्धा रखते हैं। धर्मशीला अनागारिका सुशिक्षिता, विदुषी और शीलवती है। वह बुद्ध-शासन के प्रचार-कार्य में इतना बड़ा ऐतिहासिक कार्य कर रही है, जैसा नेपाली भिक्षु अब तक नहीं कर सके हैं। इस प्रदेश में आजकल बौद्ध-धर्म की जो उन्नति हो रही है, वह सब धर्मशीला के ही प्रयत्न का फल है। मैंने सर्व-प्रथम इस बहन को सन् १९३९ में कुशीनगर में देखा था। उस समय मैं नहीं जानता था कि यह एक दिन पश्चिमी नेपाल की धर्म-प्रचारिका होगी।

बुद्ध-विहार का निर्माण सन् १९४१ में हुआ था, तब से इस प्रदेश के बौद्धों में नव-जागृति आने लगी है। संध्या के समय बिहार में जो विशेष रूप से बुद्ध-पूजा होती है, उसमें नगर की बहुत-सी उपासक-उपासिकाएँ सम्मिलित होती हैं।

मैं जिस समय बिहार के हाते में आया, सामने लगे हुए साइन-बोर्ड को देखकर प्रसन्न हो उठा। साइन-बोर्ड पर लिखा था—"परम पूज्यपाद चंद्रमणि भिक्षुनो महास्थविरस्य नमो।" जब ऊपर गया, तो दुमंज़िले पर एक सुंदर मंदिर पाया, जिसमें भगवान् शाक्य मुनि की दो भव्य और दर्शनीय मूर्तियाँ थीं। बुद्ध-चरित-संबंधी अनेक चित्र भीतों पर लटक रहे थे।

× × ×

पोखरा में मेरा अधिक दिन रहने का विचार नहीं था। सागु बाजार से जो भरिया आया था, वह भी पोखरा तक के लिये ही। मैंने उसे दूसरे दिन मज़दूरी देकर छुट्टी दे दी, और मुक्तिनाथ चलने की तैयारी करने लगा। पोखरा से मुक्तिनाथ की यात्रा कठिन होती है। यहाँ से उत्तर बर्फ़ीली पहाड़ियों के नीचे से जाना पड़ता है।

मैंने चाहा कि रविरत्न यहीं रह जाय, मुक्तिनाथ से लौटकर उसे फिर साथ ले लेंगे, किंतु उसके हठ के सामने मेरी सारी कल्पना काफूर हो गई। उसके पास जूते भी नहीं थे। वह अपने जूते गांगु में ही छोड़ आया था, और बिना जूते के मुक्तिनाथ की यात्रा संभव न थी। प्रातःकाल इतनी ठंडक रहती है कि हाथ-पैर सिकुड़ जाते हैं। मैंने उसे पोखरा में छोड़ने के लिये इसे अच्छा उपाय समझा, और कहा—"तुम्हारे पास जूते नहीं हैं, मुक्तिनाथ कैसे चलोगे ?" किंतु उस निर्भीक और साहसी बालक को मेरी बातें सुनकर तनिक भी चिंता न हुई। वह मुझसे रुपए लेकर आस्मा के साथ नगर में गया, और अपने लिये रबर के जूते खरीद लाया। मैंने आस्मा को भेजकर उसके लिये एक कंबल और चश्मा भी दिया। उस दिन पोखरा के एक संभ्रांत हिंदू सज्जन का निमंत्रण था, अतः प्रस्थान नहीं कर सका।

पाँचवीं एप्रिल को आधे से अधिक सामान पोखरा में रखकर केवल आवश्यक चीज़ें ले भोजनोपरांत हम तीनों आगे बढ़े। पोखरा से छ मील तक पोखरा-उपत्यका के मैदान में जाकर पर्वतों की चढ़ाई प्रारंभ हुई। आज हम लोग 'लुङ्ले'-नामक एक पहाड़ी गाँव में पहुँचकर वहाँ रह गए। लुङ्ले पोखरा से लगभग १० मील है।

धौलागिरि के नीचे

दूसरे दिन प्रातः जल-पान करके हम लोग तुङ्ले से चले। आज मार्ग में चावल लेकर मुक्तिनाथ की ओर जाते हुए और नमक लेकर वापस आते हुए गृहस्थों के अनेक झुंड मिले। पोखरा से लेकर बारा प्रदेश तक के लोग चावल लेकर घासा के पास काली गंडक तक जाते हैं, उधर से भोटिया और ठकाली लोग याक, खच्चर और घोड़ों पर छोटी-छोटी बोरियों में नमक लादे हुए आते हैं। दोनों वहाँ अपने-अपने सामान को बदलते हैं। बदले में एक माना चावल का डेढ़ माना नमक मिलता है। यह व्यापार विशेषकर इन्हीं दिनों होता है। भोटिया और ठकाली लोग नमक तिब्बत के 'छोंका' प्रदेश से मस्ताङ् होते हुए लाते हैं।

तुङ्ले से चलकर ४ मील दूर बुरुंजी खोला (स्रोत) के बाएँ किनारे पर स्थित रामदुङ्गा में भोजन किया। आज बहुत पहाड़ियाँ चढ़नी-उतरनी पड़ीं। बुरुंजी खोले के पानी की धार बड़ी तेज़ थी। मेरा भरिया आसमा बिस्तरा लिए हुए स्रोत में गिर पड़ा, किंतु विशेष कोई नुकसान नहीं हुआ।

वहाँ से पर्वतों पर चढ़ते-उतरते जब हम लोग उल्लेरिन पहाड़ी के नीचे तार द्वारा दो लकड़ियों से बने भयानक लचकदार पुल पर पहुँचे, तब बड़े ज़ोरों का बादल उठा। हम लोगों ने जल्दी-जल्दी पहाड़ी पर चढ़ना शुरू किया, क्योंकि नीचे कहीं छिपने योग्य कोई स्थान न था। उल्लेरिन पहाड़ी की सीधी चढ़ाई भी बड़ी भयावह थी। इसकी ऊँचाई दो मील से कम न थी। उल्लेरिन गाँव पर्वत-शिखर पर था।

अभी हम लोग आधी पहाड़ी भी नहीं चढ़ पाए थे कि बूँदें पड़ने लगीं। जल्दी-जल्दी हम लोग एक झोपड़ी में गए। झोपड़ी में पहुँचना था कि ओले पड़ने लगे। पोखरा से मुक्तिनाथ की यात्रा में सदा यह ध्यान रक्खा जाता है कि बादल उठते ही किसी घर का आश्रय ले लिया जाय। बादल भी दोपहर के बाद ही उठते हैं, अतः यात्री प्रायः प्रातःकाल ही रास्ता चलते हैं, और जब बादल देखते हैं, तब कहीं ठहर जाते हैं।

लगभग एक घंटे बाद पानी बरसना बंद हुआ। हम लोगों ने ऊपर चढ़ना शुरू किया। चढ़ाई में थोड़ी-थोड़ी दूर पर दम लेना पड़ता था। उल्लेरिय गाँव पहुँचकर हम लोग एक घर के बरामदे में आसन लगाकर सो रहे।

उल्लेरिय पहाड़ी पर जौ की फ़सल बहुत अच्छी होती है। आजकल जौ कट रहा था। आलू और मक्का की भी फ़सल होती है, किंतु धान बिलकुल नहीं होता। यहाँ से लेकर मुक्तिनाथ की ओर धान बोया ही नहीं जाता।

सातवीं एप्रिल को हम लोग उल्लेरिय से आगे बढ़े। आज घनघोर जंगलों से होकर जाना पड़ा। जंगल अनेक प्रकार के रंग-बिरंगे फूलों से भरे हुए थे। स्थान-स्थान पर पर्वतों से झरने झर रहे थे। तमाम सूखे हुए वृक्ष जंगलों में गिरे पड़े थे। जो वृक्ष खड़े थे, उनके तनों पर काई लगी हुई थी। जंगल शीतल और सुहावने थे। इस जंगल-प्रदेश को 'घोरापानी' कहते हैं। यह इतना ठंडा होता है कि अनजाने यात्री असमय में आकर ठिठुरकर ठंडे पड़ जाते हैं। हम लोगों को पहले से इसका पूरा ज्ञान था। आजकल की ऋतु भी अनुकूल थी, अतः हमें किसी प्रकार का कष्ट नहीं हुआ।

घोरापानी को पार कर हम लोग दोपहर में 'फलाते'-नामक गाँव में पहुँचे, जो खैरा पर्वत के नीचे स्थित है। खैरा पर्वत को देखकर

मन-ही-मन मैं अपने भाग्य को सराहता था, और सोचता था कि मेरे बचपन की मनोकामना अब पूरी हो रही है। फलाते में भोजन कर आगे बढ़े। आज मेरे पैर विशेष दुख रहे थे। मार्ग चलना कठिन हो रहा था। थोड़ी देर में बादल भी मँडराने लगे, अतः दो बजे घारा-नामक गाँव में जाकर ठहर गए। घारा गाँव के श्रीनारायण गिरि ने हम लोगों का बड़ा सत्कार किया।

दूसरे दिन प्रातः घारा की उत्तुंग पहाड़ियों पर चढ़ते-उतरते काली गंडक के तारवाले लचकदार पुल से गुज़रकर उसके दाएँ किनारे-किनारे टाटोपानी* (गर्म जल) से आगे दानभंसार तक गए। पुनः काली गंडक को पार कर बाएँ किनारे का मार्ग पकड़ा। वहाँ से थोड़ी दूर पर 'दानामल्लाज'-नामक गाँव में पहुँचे, और वहीं भोजन किया।

दानभंसार इस प्रदेश का आख़िरी हुलाक (डाकघर) है। मुक्तिनाथ आदि स्थानों की डाक यहीं से जाती है। जिनको चिट्ठियाँ छोड़नी होती हैं, वे यहीं आकर छोड़ते या आनेवाले व्यापारियों के हाथ भेजकर छोड़वाते हैं।

दानामल्लाज से चलकर घासा के पास पुनः हम लोग काली गंडक को पार कर दाएँ किनारे गए। वहाँ नमक के व्यापारियों की दस-बारह दूकानें थीं। पोखरा आदि प्रदेश से आए हुए व्यापारी चावल देकर नमक ले रहे थे, और भोट से नमक लाए हुए व्यापारी नमक क बोरियों को ख़ाली करके उनमें चावल भर रहे थे। ये दूकानें केवल जाड़े के अंत से लेकर वर्षा के प्रारंभ तक ही रहती हैं। जब पानी बरसने लगता है, तब व्यापारियों का आना-जाना बंद हो जाता है।

---

* यहाँ गर्म जल का स्रोत है।

हम लोग अब अनुभव कर रहे थे कि बौद्ध देश में चल रहे हैं। स्थान-स्थान पर पत्थरों के बने हुए छोटे-छोटे चैत्य थे। उन पर चूना पोता हुआ था, बड़े-बड़े अक्षरों में 'ओं मणि पद्मे हुं' लिखा हुआ था। गाँवों में 'दरचोक'-नामक मंत्राकित झंडे फहरा रहे थे, जिन पर ओं मणि पद्मे हुं, ओं वागीश्वरी हुं आदि मंत्र लिखे हुए थे। दर-चोक के पताके चार महाभूतों को प्रकट करने के लिये चार रंग के होते हैं। इनका रंग ऊपर से क्रमशः श्वेत (वायु), रक्त (अग्नि), नील (जल) और पीत (पृथ्वी) होता है। प्रायः ये उन्हीं घरों के ऊपर लगाए जाते हैं, जिन घरों में कोई बीमार होता है। लोगों का ऐसा विश्वास है कि इन झंडों के लगा देने के बाद बीमारी दूर हो जाती है। इधर ठकाली बौद्धों की ही बस्तियाँ हैं, हिंदू बिलकुल नहीं हैं। मुसलमानों को तो यहाँ के लोगों ने देखा भी नहीं।

घासा से चलते हुए संध्या को धौलागिरि के नीचे 'लेते'-नामक गाँव में पहुँचे। यह गाँव बहुत प्राचीन और प्रसिद्ध है। यहाँ लगभग बीस ठकाली बौद्धों के घर हैं, जो सब पत्थरों से बने हैं। पोखरा से उत्तरवाले सारे पर्वतीय प्रदेश में घर पत्थर से ही बनाए और छाए जाते हैं। यहाँ के घरों में यह विशेषता थी कि इनमें नीचे देवदारु के तख्ते बिछाए हुए थे।

इस प्रदेश के ग्रामवासी देवदारु की लकड़ी से ही अपना सारा काम चलाते हैं। उसी से घर बनाते, आग जलाते और उसकी पत्तियों को मार्ग में बिछाकर मार्ग की मरम्मत करते हैं। तेल के अभाव में चिराग़ का काम देवदारु और काहिल की लकड़ी से ही लेते हैं। इधर देवदारु-वृक्षों के झुरमुट सर्वत्र हैं। इनके अतिरिक्त दूसरे वृक्ष इतने लंबे नहीं होते।

'लेते' गाँव में अनेक प्राचीन चैत्य भी हैं। पहले यहाँ एक गुंबा भी था, किंतु अब नहीं है। लामा की आवश्यकता पड़ने पर किसी

मन-ही-मन मैं अपने भाग्य को सराहता था, और सोचता था कि मेरे बचपन की मनोकामना अब पूरी हो रही है। फलाने में भोजन कर आगे बढ़े। आज मेरे पैर विशेष दुख रहे थे। मार्ग चलना कठिन हो रहा था। थोड़ी देर में बादल भी मँडराने लगे, अतः दो बजे बारा-नामक गाँव में जाकर ठहर गए। बारा गाँव के श्रीनारायण गिरि ने हम लोगों का बड़ा सत्कार किया।

दूसरे दिन प्रातः बारा की उत्तुंग पहाड़ियों पर चढ़ते-उतरते काली गंडक के तारवाले लचकदार पुल से गुजरकर उसके दाएँ किनारे-किनारे टाटोपानी* (गर्म जल) से आगे दानभंसार तक गए। पुनः काली गंडक को पार कर बाएँ किनारे का मार्ग पकड़ा। वहाँ से थोड़ी दूर पर 'दानामल्लाज'-नामक गाँव में पहुँचे, और वहीं भोजन किया।

दानभंसार इस प्रदेश का आखिरी हुलाक (डाकघर) है। मुक्तिनाथ आदि स्थानों की डाक यहीं से जाती है। जिनको चिट्ठियाँ छोड़नी होती हैं, वे यहीं आकर छोड़ते या आनेवाले व्यापारियों के हाथ भेजकर छोड़वाते हैं।

दानामल्लाज से चलकर घासा के पास पुनः हम लोग काली गंडक को पार कर दाएँ किनारे गए। वहाँ नमक के व्यापारियों की दस-बारह दूकानें थीं। पोखरा आदि प्रदेश से आए हुए व्यापारी चावल देकर नमक ले रहे थे, और भोट से नमक लाए हुए व्यापारी नमक क बोरियों को खाली करके उनमें चावल भर रहे थे। ये दूकानें केवल जाड़े के अंत से लेकर वर्षा के आरंभ तक ही रहती हैं। जब पानी बरसने लगता है, तब व्यापारियों का आना-जाना बंद हो जाता है।

---

* यहाँ गर्म जल का स्रोत है।

हम लोग अब अनुभव कर रहे थे कि बौद्ध देश में चल रहे हैं। स्थान-स्थान पर पत्थरों के बने हुए छोटे-छोटे चैत्य थे। उन पर चूना पोता हुआ था, बड़े-बड़े अक्षरों में 'ओं मणि पद्मे हुं' लिखा हुआ था। गाँवों में 'दर्चोक'-नामक मंत्रांकित झंडे फहरा रहे थे, जिन पर ओं मणि पद्मे हुं', ओं वागीश्वरी हुं आदि मंत्र लिखे हुए थे। दर्चोक के पताके चार महाभूतों को प्रकट करने के लिये चार रंग के होते हैं। इनका रंग ऊपर से क्रमशः श्वेत (वायु), रक्त (अग्नि), नील (जल) और पीत (पृथ्वी) होता है। प्रायः ये उन्हीं घरों के ऊपर लगाए जाते हैं, जिन घरों में कोई बीमार होता है। लोगों का ऐसा विश्वास है कि इन झंडों के लगा देने के बाद बीमारी दूर हो जाती है। इधर ठकाली बौद्धों की ही बस्तियाँ हैं, हिंदू बिलकुल नहीं हैं। मुसलमानों को तो यहाँ के लोगों ने देखा भी नहीं।

थासा से चलते हुए संध्या को धौलागिरि के नीचे 'लेते'-नामक गाँव में पहुँचे। यह गाँव बहुत प्राचीन और प्रसिद्ध है। यहाँ लगभग बीस ठकाली बौद्धों के घर हैं, जो सब पत्थरों से बने हैं। पोखरा से उत्तरवाले सारे पर्वतीय प्रदेश में घर पत्थर से ही बनाए और छाए जाते हैं। यहाँ के घरों में यह विशेषता थी कि इनमें नीचे देवदारु के तख्ते बिछाए हुए थे।

इस प्रदेश के ग्रामवासी देवदारु की लकड़ी से ही अपना सारा काम चलाते हैं। उसी से घर बनाते, आग जलाते और उसकी पत्तियों को मार्ग में बिछाकर मार्ग की मरम्मत करते हैं। तेल के अभाव में चिराग़ का काम देवदारु और काहिल की लकड़ी से ही लेते हैं। इधर देवदारु-वृक्षों के झुरमुट सर्वत्र हैं। इनके अतिरिक्त दूसरे वृक्ष इतने लंबे नहीं होते।

'लेते' गाँव में अनेक प्राचीन चैत्य भी हैं। पहले यहाँ एक गुंबा भी था, किंतु अब नहीं है। लामा की आवश्यकता पड़ने पर किसी

दूर के गुंबा से लामा को निमंत्रित करके लाते हैं। यहाँ के ठकाली लोग तामंग-भाषा बोलते हैं।

मैं बचपन से ही धौलागिरि को देख-देखकर * सोचता था कि क्या यहाँ भी आदमी होंगे? किंतु आज अपने को उसके नीचे पाकर मन-ही-मन भाग्य की सराहना कर रहा था। संध्या के समय धौलागिरि की शुभ्र, धवल हिम से ढँकी हुई चोटियाँ बादलों से आच्छादित होकर नाना वर्ण की हुई अत्यंत चित्ताकर्षक थीं। संध्याकालीन सूर्य की किरणों से पर्वत-शिखर का हिम-पुंज सुवर्ण और रजतमय जान पड़ता था, जिसे देख-देखकर मन फूला नहीं समाता था। देवदारु के वृक्षों से होकर आई हुई शीतल, सुगंधित वायु सारा वायु-मंडल सुरभित कर रही थी। धौलागिरि के निचले भागों से झरते हुए झरने मन को मुग्ध कर रहे थे।

हम लोग एक गृहस्थ के घर जाकर रह गए। जब उसने जाना कि मैं ग्यागर-लामा (भारतीय भिक्षु) हूँ, तब बड़ा आदर-सत्कार किया, तथा रात में बड़ी देर तक भारतीय समाचारों को पूछता रहा।

---

* अपेक्षाकृत परिशुद्ध आकाश होने पर कुशीनगर से धौलागिरि भली भाँति दिखाई देता है।

गंडक की गोद में

यों तो टाटोपानी से ही गंडक के किनारे-किनारे यात्रा करनी पड़ती है, किंतु 'लेते' से कागबेनी तक प्रायः गंडक की गोद में होकर चलना पड़ता है। 'लेते' से आगे प्रतिदिन बारहों मास दोपहर के पश्चात् एक बजे से ज़ोरों की हवा चलती है, जो बड़ी ही शीतल होती है। इस हवा में गंडक की रेत उड़ती है। कभी-कभी बालू के साथ छोटे-छोटे पत्थर के टुकड़े भी उड़कर शरीर में आ लगते हैं। जो लोग बिना चश्मे के जाते हैं, उन्हें बहुत परेशान होना पड़ता है, क्योंकि नदी की रेत से आँखें भर जाती हैं, और मार्ग नहीं सूझता, अतः सब यात्री चश्मा लेकर ही जाते हैं। शीतल-वायु के कारण प्रातःकाल ही मार्ग चलते हैं। दोपहर में किसी गाँव में पहुँचकर रुक जाते हैं।

हम लोग इन सब बातों को पहले से ही भले प्रकार जानते थे, इसीलिये ९ मई को चार बजे ही उठकर हाथ-मुँह धोया, और जल-पान किया, तथा भोर होते-होते लेते से प्रस्थान कर दिया। थोड़ी दूर जाकर २६,८१० फ़ीट ऊँचे धौलागिरि के पैर को स्पर्श करके बहनेवाली गंडक के फिर बाएँ किनारे गए, और धौलागिरि के प्रातःकालीन नैसर्गिक सौंदर्य को देखते हुए गंडक की गोद से उतरकर चलने लगे।

आज जनकपुर और नवाबगंज के दो वैष्णव साधु भी हमारे साथी हो गए। वे भी मुक्तिनाथ जा रहे थे। एक ने मुझसे पूछा—"क्या स्वामीजी! हनुमान्‌जी इसी धौलागिरि से संजीवनी-बूटी ले गए थे?"

अभी मैं बोलने ही को था कि दूसरे रघुनाथ भक्त उत्तर देते

हुए कहा—"देखिए, धौलागिरि पर हिम के अतिरिक्त और कुछ तो दिखाई ही नहीं देता, संजीवनी-बूटी यहाँ कहाँ?"

"तो क्या रामायण की बात झूठी है?"

"मैं यह नहीं कहता, किंतु भारतीय विद्वान् इस हिमाच्छादित धौलागिरि से संजीवनी-बूटी ले जाने की बात को कभी स्वीकार नहीं कर सकते।"

मैं उनकी बातों को सुनकर मन-ही-मन हँस रहा था। उन्होंने पुनः मुझसे पूछा—"स्वामीजी! आप क्या कहते हैं?"

"भाई, मैं तो न रामायण को मानता हूँ और न राम को। भला, हनुमान्-जैसे बंदर और इस धौलागिरि-जैसे वृक्ष-शून्य पर्वत से संजीवनी बूटी ले जाने की बात क्योंकर विश्वसनीय होगी?"

इसी प्रकार हम लोग परस्पर बातें करते गंडक की गोद में चलते हुए नौ बजे 'टुकचे' पहुँचे। यह गाँव बड़ा और सुंदर है। यहाँ के पत्थर के बने हुए घर बड़े सुंदर हैं। गाँव के उत्तरी सिरे पर एक प्राचीन गुंबा भी है। गुंबा में एक लामा मिले, जो भारत के सभी बौद्ध तीर्थों का दर्शन कर आए थे। हिंदी के भी दो-चार शब्द बोल सकते थे। उन्होंने बहुत आग्रह किया कि हम लोग आज वहीं रहें, किंतु अभी समय बहुत था, अतः हम लोग वहाँ नहीं रुके। टुकचे गाँव के आगे मार्ग में सैकड़ों चैत्य बने हुए हैं। इन चैत्यों के पास देवदारु और एक प्रकार के सुगंधित छोटे-छोटे वृक्ष हैं, जिनसे सदा सुरभित वायु के झोंके चला करते हैं।

हम लोग गंडक के दाएँ किनारे से चलते हुए ११ बजे मारफा पहुँचे। यह एक बड़ा गाँव है। गाँव के प्रवेश-द्वार पर एक बहुत सुंदर चित्र-गृह बना हुआ है। उसमें तिब्बती ढंग से भगवान् बुद्ध, पद्मसंभव, तारा आदि के चित्र बने हुए हैं, जो दर्शनीय हैं।

आज भोजन बनाने के लिये चावल नहीं था। इधर केवल गेहूँ,

जौ, आलू, फाफर की पैदावार होती है। मक्का, धान, कोदो, अरहर, मटर आदि की पैदावार बिलकुल नहीं होती। इस समय गेहूँ के पौधे दो-चार अंगुल ही बड़े हुए थे। पोखरा का आया हुआ चावल लोगों के घर था। अतः बहुत खोज करने के बाद एक व्यापारी के घर चावल मिला। वह भी बहुत महँगा दिया। तरकारी और शिकार (गोश्त) के अतिरिक्त कुछ नहीं था, और मैं था पूरा निरामिष; अतः भात दाल से ही पेट-पूजा की।

इधर गाँव का प्रत्येक गृहस्थ अपने पास शिकारी कुत्ता रखता है। शिकारी कुत्ते दिन में बाँधकर रक्खे जाते हैं। यदि वे छूट जायँ, तो बिना प्राण लिए नहीं छोड़ते। एक बात और भी बड़ी विचित्र थी। धौलागिरि से मुक्तिनाथ तक हम लोगों ने जितने कौओं को देखा, सबकी चोंच लाल रंग की थी! उनकी बोली भी कुछ भिन्न थी।

भोजनोपरांत मारफा से चल दिए। मारफा से निकलते ही पूर्वोक्त शीतल वायु चलनी प्रारंभ हुई। हम लोगों ने बड़ी गलती की, जो मारफा छोड़कर आगे बढ़े। वायु इतनी तेज़ी से बहती थी कि शरीर सँभालना मुश्किल हो रहा था। कभी-कभी आगे की ओर अपने-आप क़दम बढ़ता जाता था। ख़ैरियत यह थी कि वायु पीछे की ओर से चल रही थी, और हम लोग वायु के रुख़ की ओर जा रहे थे। चलते हुए तीन बजे 'भुंगा'-नामक गाँव में पहुँचे। यह गाँव गंडक-नदी के बाएँ किनारे पर स्थित है। नदी पर लकड़ी का पुल बँधा हुआ है। इसी पुल से नदी को पार कर गाँव में जाते हैं।

भुंगा पहुँचकर हम लोग वहीं एक बुढ़िया के घर ठहर गए। आज यहाँ की धर्मशाला में दस-पंद्रह संन्यासी भी मिले, जो मुक्तिनाथ जा रहे थे। शीतल वायु इतनी तेज चल रही थी कि घर से बाहर

हुए कहा—"देखिए, धौलागिरि पर हिम के अतिरिक्त और कुछ तो दिखाई ही नहीं देता, संजीवनी-बूटी यहाँ कहाँ ?"

"तो क्या रामायण की बात झूठी है ?"

"मैं यह नहीं कहता, किंतु भारतीय विद्वान् इस हिमाच्छादित धौलागिरि से संजीवनी-बूटी ले जाने की बात को कभी स्वीकार नहीं कर सकते।"

मैं उनकी बातों को सुनकर मन-ही-मन हँस रहा था। उन्होंने पुनः मुझसे पूछा—"स्वामीजी ! आप क्या कहते हैं ?"

"भाई, मैं तो न रामायण को मानता हूँ और न राम को। भला, हनुमान्-जैसे बंदर और इस धौलागिरि-जैसे वृक्ष-शून्य पर्वत से संजीवनी बूटी ले जाने की बात क्योंकर विश्वसनीय होगी ?"

इसी प्रकार हम लोग परस्पर बातें करते गंडक की गोद में चलते हुए नौ बजे 'टुकचे' पहुँचे। यह गाँव बड़ा और सुंदर है। यहाँ के पत्थर के बने हुए घर बड़े सुंदर हैं। गाँव के उत्तरी सिरे पर एक प्राचीन गुंबा भी है। गुंबा में एक लामा मिले, जो भारत के सभी बौद्ध तीर्थों का दर्शन कर आए थे। हिंदी के भी दो-चार शब्द बोल सकते थे। उन्होंने बहुत आग्रह किया कि हम लोग आज वहीं रहें, किंतु अभी समय बहुत था, अतः हम लोग वहाँ नहीं रुके। टुकचे गाँव के आगे मार्ग में सैकड़ों चैत्य बने हुए हैं। इन चैत्यों के पास देवदारु और एक प्रकार के सुगंधित छोटे-छोटे वृक्ष हैं, जिनसे सदा सुरभित वायु के झोंके चला करते हैं।

हम लोग गंडक के दाएँ किनारे से चलते हुए ११ बजे मारफा पहुँचे। यह एक बड़ा गाँव है। गाँव के प्रवेश-द्वार पर एक बहुत सुंदर चित्र-गृह बना हुआ है। उसमें तिब्बती ढंग से भगवान् बुद्ध, पद्मसंभव, तारा आदि के चित्र बने हुए हैं, जो दर्शनीय हैं।

आज भोजन बनाने के लिये चावल नहीं था। इधर केवल गेहूँ,

जौ, आलू, फाफर की पैदावार होती है। मक्का, धान, कोदो, अरहर, मटर आदि की पैदावार बिलकुल नहीं होती। इस समय गेहूँ के पौधे दो-चार अंगुल ही बढ़े हुए थे। पोखरा का आया हुआ चावल लोगों के घर था। अतः बहुत खोज करने के बाद एक व्यापारी के घर चावल मिला, वह भी बहुत महँगा दिया। तरकारी और शिकार (गोश्त) के अतिरिक्त कुछ नहीं था, और मैं था पूरा निरामिष; अतः भात दाल से ही पेट-पूजा की।

इधर गाँव का प्रत्येक गृहस्थ अपने पास शिकारी कुत्ता रखता है। शिकारी कुत्ते दिन में बाँधकर रक्खे जाते हैं। यदि वे छूट जायँ, तो बिना प्राण लिए नहीं छोड़ते। एक बात और भी बड़ी विचित्र थी। धौलागिरि से मुक्तिनाथ तक हम लोगों ने जितने कौओं को देखा, सबकी चोंच लाल रंग की थी। उनकी बोली भी कुछ भिन्न थी।

भोजनोपरांत मारफा से चल दिए। मारफा से निकलते ही पूर्वोक्त शीतल वायु चलनी प्रारंभ हुई। हम लोगों ने बड़ी ग़लती की, जो मारफा छोड़कर आगे बढ़े। वायु इतनी तेज़ी से बहती थी कि चीवर सँभालना मुश्किल हो रहा था। कभी-कभी आगे की ओर अपने-आप क़दम बढ़ता जाता था। ख़ैरियत यह थी कि वायु पीछे की ओर से चल रही थी, और हम लोग वायु के रुख़ की ओर जा रहे थे। चलते हुए तीन बजे 'झुंसा'-नामक गाँव में पहुँचे। यह गाँव गंडक-नदी के बाएँ किनारे पर स्थित है। नदी पर लकड़ी का पुल बँधा हुआ है। इसी पुल से नदी को पार कर गाँव में जाते हैं।

झुंसा पहुँचकर हम लोग वहाँ एक बुढ़िया के घर ठहर गए। आज यहाँ की धर्मशाला में दस-पंद्रह संन्यासी भी मिले, जो मुक्तिनाथ जा रहे थे। शीतल वायु इतनी तेज़ चल रही थी कि घर से बाहर

निकलने का साहस नहीं होता था। हिमगामी वायु की शीतलता से थर-थर काँप रहे थे।

झोंगा बहुत बड़ा तो नहीं, किंतु बहुत प्राचीन और प्रसिद्ध गाँव है। यहाँ एक गुंबा (विहार) भी है। गुंबा के अवतारी लामा इस समय बीमार थे। मैं [illegible] के साथ उन्हें देखने गया, किंतु गुंबा के कुत्तों के डर से केवल गुंबा ही देखकर लौट आया।

दूसरे दिन प्रातः जल-पान करके झोंगा से प्रस्थान किया। काली गंडक की गोद में चलते हुए कागबेनी से एक मील पूर्व ही पर्वत पर चढ़ना प्रारंभ किया। प्रायः लोग कागबेनी से ही मुक्तिनाथ जाया करते हैं। काली और मयाङदी-नदियों के संगम पर बसा हुआ यह इस प्रदेश का बड़ा बाज़ार है। लोग यहाँ से होकर तिब्बत जाते हैं। कागबेनी के पास गंडक में शालग्राम पत्थर बहुत मिलता है। इसमें पतला-पतला सोना होता है, इसलिये यहाँ से लोग शालग्राम को एकत्र करके, फोड़कर सोना निकालते हैं। [illegible] ने बहुत-से शालग्राम को एकत्र कर लिया था, किंतु मैंने कुछ को छोड़कर शेष सब फेंकवा दिए।

मारफा से आगे नंगे पर्वत पड़ते हैं। इन पर्वतों पर काँटेदार 'छेरमा' के छोटे-छोटे वृक्षों के अतिरिक्त दूसरे वृक्ष नहीं होते। बस्तियों में 'शोलङ्गो' वृक्ष होता है, जिसे 'तिब्बती पीपल' भी कहते हैं। घर बनाने में शोलङ्गो की लकड़ी ही काम आती है। 'छेरमा' को भोजन बनाने आदि के काम में लाते हैं।

हम लोग अब गंडक-नदी को छोड़कर पर्वतों पर चढ़ते हुए लगभग पाँच मील पूरब चलने के पश्चात् ग्यारह बजे मुक्तिनाथ पहुँचे।

निकलने का साहस नहीं होता था। किन्तु सेवकगण वायु की शीतलता से थर-थर काँप रहे थे।

झुंगा बहुत बड़ा तो नहीं, किन्तु बहुत प्राचीन और प्रसिद्ध गाँव है। यहाँ एक गुंबा (विहार) भी है। गुंबा के अवतारी लामा इस समय बीमार थे। मैं रवि के साथ उन्हें देखने गया, किन्तु गुंबा के कुत्ते के डर से केवल गुंबा ही देखकर लौट आया।

दूसरे दिन प्रातः जल-पान करके झुंगा से प्रस्थान किया। काली गंडक की गोद में चलते हुए, कागबेनी से एक मील पूर्व ही पर्वत पर चढ़ना प्रारंभ किया। प्रायः लोग कागबेनी से ही मुक्तिनाथ जाया करते हैं। काली और बयाङ्दी-नदियों के संगम पर बसा हुआ यह इस प्रदेश का बड़ा बाज़ार है। लोग यहीं से होकर तिब्बत जाते हैं। कागबेनी के पास गंडक में शालग्राम पत्थर बहुत मिलता है। उसमें पतला-पतला सोना होता है, इसलिये यहाँ से लोग शालग्राम को एकत्र करके, फोड़कर सोना निकालते हैं। रविलाल ने बहुत-से शालग्राम को एकत्र कर लिया था, किन्तु मैंने कुछ को छोड़कर शेष सब फेंकवा दिए।

मारफा से आगे नंगे पर्वत पड़ते हैं। इन पर्वतों पर कांटेदार 'छेर्मा' के छोटे-छोटे वृक्षों के अतिरिक्त दूसरे वृक्ष नहीं होते। बस्तियों में 'शोलशो' वृक्ष होता है, जिसे 'तिब्बती पीपल' भी कहते हैं। घर बनाने में शोलशो की लकड़ी ही काम आती है। 'छेर्मा' को भोजन बनाने आदि के काम में लाते हैं।

हम लोग अब गंडक-नदी को छोड़कर पर्वतों पर चढ़ते हुए लगभग पाँच मील पूरब चलने के पश्चात् ग्यारह बजे मुक्तिनाथ पहुँचे।

मुक्तिनाथ—ज्वालामुखी

मुक्तिनाथ हिमाच्छादित आमग्या पर्वत के निचले भाग में स्थित है। इसके पश्चिम नाइक के किनारे स्थित नामग्हुड् (नामाङ्गन), उत्तर में नारा, और दक्षिण में धुआङ की पर्वत-श्रेणियाँ फैली हुई हैं, जिनके शिखर सदा [illegible] से ढँके रहते हैं। मुक्तिनाथ की [illegible]-भूमि भी केवल गर्मियों के दो चार मास बर्फ़ से खाली रहती है। जाड़े के दिनों में इस पर छः-छः फ़ीट मोटी बर्फ़ जम जाती है। अप्रैल में मुक्तिनाथ के मंदिर के आस-पास चारों ओर बर्फ़ की चार-चार अंगुल मोटी तह जमी हुई थी।

ऊपर की ओर से पानी के श्वेत झरने झर रहे थे। पर्वतों के ऊपर सूर्य की किरणें पड़ने से रजत की भाँति हिम चमक रहा था, जिन्हें देखकर चित्त प्रफुल्लित हो जाता था। शोलुवों के मोटे-मोटे नंगे वृक्ष मंदिर के चारों ओर खड़े थे। उनकी पत्तियाँ जाड़े में ही हिम-पात से गिर गई थीं। शोलुवो वृक्ष की पत्तियाँ पीपल की पत्तियों के समान होती हैं। यही वृक्ष यहाँ के लोगों का प्रधान काष्ठ-वृक्ष है।

यात्री झारकोट-नामक गाँव से होकर मुक्तिनाथ जाते हैं, वही यहाँ का प्रधान गाँव है। जो कोई सामान लेना होता है, वह इसी गाँव से मँगाया जाता है। झारकोट मुक्तिनाथ से आध मील पूर्व ही पड़ता है।

मुक्तिनाथ में दो धर्मशालाएँ और चार गुंबा (विहार) हैं। हम लोग ऊपर जाकर मुक्तिनाथ-मंदिर के पासवाली धर्मशाला में ठहरे। धर्मशाला छोटी और बहुत गंदी है। जो यात्री मुक्तिनाथ जाते हैं, वे धर्मशाले में ही बनाते-खाते हैं। राख, जली हुई लक-

निकलने का साहस नहीं होता था। हिम-गन्धवाली वायु की शीतलता से थर-थर काँप रहे थे।

झुँगा बहुत बड़ा तो नहीं, किंतु बहुत प्राचीन और प्रसिद्ध गाँव है। यहाँ एक गुंबा (विहार) भी है। गुंबा के अवतारी लामा इस समय बीमार थे। मैं भिक्षु के साथ उन्हें देखने गया, किंतु गुंबा के कुत्ते के डर से केवल गुंबा ही देखकर लौट आया।

दूसरे दिन प्रातः जल-पान करके झुँगा से प्रस्थान किया। काली गंडक की गोद में चलते हुए, कागबेनी से एक मील पूर्व ही पर्वत पर चढ़ना आरंभ किया। प्रायः लोग कागबेनी से ही मुक्तिनाथ जाया करते हैं। काली और मयाङ्दी-नदियों के संगम पर बसा हुआ यह इस प्रदेश का बड़ा बाज़ार है। लोग यहीं से होकर तिब्बत जाते हैं। कागबेनी के पास गंडक में शालग्राम पत्थर बहुत मिलता है। उसमें पतला-पतला सोना होता है, इसलिये यहाँ से लोग शालग्राम को एकत्र करके, फोड़कर सोना निकालते हैं। भिक्षु ने बहुत-से शालग्राम को एकत्र कर लिया था, किंतु मैंने कुछ को छोड़कर शेष सब फेंकवा दिए।

मारफा से आगे नंगे पर्वत पड़ते हैं। इन पर्वतों पर काँटेदार 'छेरमा' के छोटे-छोटे वृक्षों के अतिरिक्त दूसरे वृक्ष नहीं होते। बस्तियों में 'शोलबो' वृक्ष होता है, जिसे 'तिब्बती पीपल' भी कहते हैं। घर बनाने में शोलबो की लकड़ी ही काम आती है। 'छेरमा' को भोजन बनाने आदि के काम में लाते हैं।

हम लोग अब गंडक-नदी को छोड़कर पर्वतों पर चढ़ते हुए, लगभग पाँच मील पूरब चलने के पश्चात् ग्यारह बजे मुक्तिनाथ पहुँचे।

मुक्तिनाथ—ज्वालामुखी

मुक्तिनाथ हिमाच्छादित जा[illegible] पर्वत के निचले भाग में स्थित है। इसके पश्चिम सड़क के किनारे स्थित [illegible] ([illegible]), उत्तर में माला और दक्षिण में पूजा की ध्वज-झंडियाँ फैली हुई हैं, जिनके ऊपर [illegible] से ढँके रहते हैं। मुक्तिनाथ की शिखर-भूमि भी केवल गर्मियों में ही बर्फ से खाली रहती है, जाड़े के दिनों में इस पर कुछ-कुछ फीट मोटी बर्फ जम जाती है। अप्रैल में मुक्तिनाथ के मंदिर के आस-पास चारों ओर बर्फ की चार-चार अंगुल मोटी तह जमी हुई थी।

ऊपर की ओर से पानी के श्वेत झरने झर रहे थे। पर्वतों के ऊपर सूर्य की किरणें पड़ने से रजत की भाँति हिम चमक रहा था, जिन्हें देखकर चित्त प्रफुल्लित हो जाता था। शालुवों के मोटे-मोटे नंगे वृक्ष मंदिर के चारों ओर खड़े थे। इनकी पत्तियाँ जाड़े में ही हिम-पात से गिर गई थीं। शालुवों वृक्ष की पत्तियाँ पीपल की पत्तियों के समान होती हैं। यही वृक्ष यहाँ के लोगों का प्रधान काष्ठ-वृक्ष है।

यात्री झारकोट-नामक गाँव से होकर मुक्तिनाथ आते हैं, यही यहाँ का प्रधान गाँव है। जो कोई सामान लेना होता है, वह इसी गाँव से मँगाया जाता है। झारकोट मुक्तिनाथ से आध मील पूर्व ही पड़ता है।

मुक्तिनाथ में दो धर्मशालाएँ और चार गुंबा (विहार) हैं। हम लोग ऊपर जाकर मुक्तिनाथ-मंदिर के पासवाली धर्मशाला में ठहरे। धर्मशाला छोटी और बहुत गंदी है। जो यात्री मुक्तिनाथ जाते हैं, वे धर्मशाले में ही बनाते-खाते हैं। राख, जली हुई लक-

ड़ियाँ, कोयला और चूल्हे के पत्थर ज्यों-के-त्यों पड़े रहते हैं। हम लोग ऊपरी तल्ले में गए, और राख आदि को साफ़ कर, उसके ऊपर कंबल बिछा बिस्तरे लगाए। पास के थेजिङ् सिङ् गुंबा के दुर्गा लामा ने हम लोगों की बड़ी सहायता की। वह भारत कई बार हो आए थे। टूटी-फूटी हिंदी भी बोल लेते थे। उन्होंने भारको गाँव में एक आदमी भेजकर लकड़ी, आलू और आटा मँगाया।

हम लोग भोजन करने के पश्चात् मुक्तिनाथ-मंदिर तथा ज्वाला-मुखी को देखने गए।

मुक्तिनाथ-मंदिर को हिंदू लोग मुक्ति-क्षेत्र और मुक्तिनारायण नाम से भी पुकारते हैं। मुक्तिनाथ-वासी छुमि-ग्यत्सा कहते हैं। छुमि-ग्यत्सा तिब्बती शब्द है। इसका अर्थ है '१०८ जल-स्रोत'। मंदिर के पास ऊपर से सदा १०८ जल की धाराएँ गिरा करती हैं। जाड़े में ये धाराएँ जमकर बर्फ़ हो जाती हैं, किंतु गर्मी में गिरती रहती हैं। सभी हिंदू यात्री इन धाराओं के जल को अपने शरीर पर लगा लेते या सिर पर थोप लेते हैं। इनका पानी बर्फ़ से पिघल-पिघलकर आता है, इसलिये बहुत शीतल होता है। स्नान करना चाहते हुए भी यात्री स्नान नहीं कर सकते। इन्हीं स्रोतों के कारण मंदिर का नाम छुमि-ग्यत्सा पड़ गया है।

मंदिर के चारों ओर पत्थरों की चुनी हुई एक ऊँची चहारदीवारी है। इसी के भीतर लकड़ी और पत्थरों से बना हुआ मुक्तिनाथ का प्रसिद्ध मंदिर है। मंदिर इतनी सुंदरता के साथ बना हुआ है कि बाहर से देखने पर तिमंजिला जान पड़ता है। इसके सिरे पर सुवर्णान्वित स्तूप के समान कूट है। मंदिर के ऊपरी भाग में मंत्र लिखे हुए तिब्बती झंडे टँगे हैं।

मंदिर के भीतर मत्स्येंद्रनाथ (करुणामय) बोधिसत्त्व की मूर्ति है, जो ताँबे की बनी हुई है। कहते हैं, यह मूर्ति पहले झुंमा के गुंबा

(बिहार) में थी। वहाँ से लाकर इसकी यहाँ स्थापना हुई है। दुर्गा लामा का यह भी कहना था कि यह मूर्ति ऐसी तेजस्विनी और प्रतापी है कि भुंगा से उड़कर यहाँ आ गई। दुर्गा लामा ही इस मंदिर के पुजारी हैं। उन्होंने बतलाया कि यह मूर्ति और मंदिर बौद्धों का है, जिसे हिंदू भी अपना समझते और पूजते हैं। यहाँ प्रतिवर्ष चैत्र-रामनवमी को बहुत बड़ा मेला होता है। उस अवसर पर काठमांडू, सांगु बाज़ार, पोखरा, तानसेन, वाग्लुङ् आदि नगरों के लोग ना मुक्तिनाथ और ज्वालामाई (ज्वाला-मुखी) का दर्शन करने जाते हैं।

मुक्तिनाथ-मंदिर के पास बालक गवि

मंदिर का फ़र्श संगमरमर से बना हुआ है। इसे टुकचे के किसी धनी बौद्ध गृहस्थ ने बनवाया था। नेपाल-सरकार की ओर से भी पहले कभी इसकी मरम्मत हुई थी, जिसका शिला-लेख लगा हुआ है।

मुक्तिनाथ की मूर्ति के नीचे एक बड़ा शालग्राम है। जो यात्री दुर्गा लामा को पाँच रुपए देता है, उसे ही वह दिखलाते हैं। हमें उसके देखने की तनिक भी इच्छा न थी, किंतु लामा मुझे ग्यारह-

लामा (भारतीय भिक्षु) को दिखलाना अपना धर्म समझते थे। उन्होंने मुझसे कहा, चलिए, हम आपको उस शालग्राम को दिखलाएँगे, जो मुक्तिनाथ के नीचे है। मैंने अनिच्छा प्रकट करते हुए कहा—"सैकड़ों शालग्राम को हम पैरों के नीचे रौंदते हुए गंडक की गोद से आए हैं। हमारे लिये इस शालग्राम का कोई महत्त्व नहीं है।" किंतु न माने, और हमें ले जाकर शालग्राम दिखलाया। यह काली गंडक से लाकर यहाँ रक्खा गया है, जो अपेक्षाकृत बहुत बड़ा है। अंध-श्रद्धालु हिंदू इसे बड़ी श्रद्धा और भक्ति से सिर नवाते तथा पूजते हैं। भारत के हिंदू-मठों में शालग्राम की खूब पूजा होती है। किंतु मेरा विश्वास है कि जो व्यक्ति काली गंडक के शालग्राम की दुर्दशा एक बार देख लेगा, वह फिर कभी शालग्राम की पूजा करने का साहस न करेगा, और वह भली भाँति समझ भी जायगा कि यह शालग्राम कोई वैकुंठदाता ईश्वर नहीं, प्रत्युत घिसकर गोल हुआ पत्थर विशेष का अंश है।

मुक्तिनाथ-मंदिर के सामने पश्चिम की ओर एक गड्ढा बना हुआ है। छुमि-ग्यचा का सारा जल उस गड्ढे में एकत्र होकर एक नहर से नीचे की ओर जाता है।

जिस समय हम लोग मुक्तिनाथ-मंदिर का दर्शन करने गए, उस समय वहाँ तीन-चार हिंदू साधु भी विराजमान थे, जो दर्शनार्थ एक दिन पहले के आए हुए थे, और रामनवमी तक उनका यहाँ रहने का विचार था।

मुक्तिनाथ का दर्शन कर हम लोग थुलुमहागुरु-गुंबा देखने गए। यह मुक्तिनाथ-मंदिर के पास ही उत्तर ओर है। गुंबा में इतना अंधकार था कि दिन में भी बिना दीपक के नहीं दिखाई देता था। दुर्गा लामा ने दीपक जलाकर गुंबा दिखलाया। गुंबा में भगवान् शाक्य मुनि और तारा आदि की मूर्तियाँ हैं।

लोग पीछे लौटकर ज्वालामाई को देखने गए।
मंदिर मुक्तिनाथ के मंदिर से कोई २०० गज़ दक्षिण
बड़ी प्रसिद्ध मंदिर है, जिसे हिंदू लोग ज्वालामाई और

ज्वालामाई का मंदिर

मुक्तिनाथवासी 'दोलु मेंबर' अर्थात् ज्वालामुखी कहते
हैं-मंदिर के भीतर तीन स्थानों पर सदा आग की लपटें
। हैं। ये तीनों स्थान एक ही पास दो-दो हाथ की
इनके ऊपर एक चबूतरा बना हुआ है, जिस पर
की कई मूर्तियाँ रक्खी हुई हैं। ज्वाला निकलने के
कार बना दिए गए हैं कि कपड़े का पर्दा लगा देने
लाई देते। जिस समय हम लोग मंदिर में गए, केवल
। से लपट निकल रही थी, तीसरे स्थान की लपट बुझी
मा ने घी में एक लंबी लकड़ी भिगोकर एक स्थान की
से जला उसमें भी आग लगाने का प्रयत्न किया। किंतु

एक बार बड़े ज़ोरों की लपट निकली, जान पड़ा कि लामा जल जायँगे। उन्होंने दूसरी बार भी जलाने का प्रयत्न किया, तथापि थोड़ी देर जलकर ही वह बुझ गया।

बने हुए चबूतरे के मध्य भाग में पानी की नाली बहती है। उस नाली के सन्निकट जो ज्वाला उठती है, वह बड़ी तेज़ और ऊँची होती है। लोग उससे मोम-बत्ती, अगर-बत्ती आदि जलाकर भगवान् बुद्ध की पूजा करते हैं। जिन स्थानों से ज्वाला निकलती है, वहाँ पपटीदार पत्थर हैं। उन पत्थरों के बीच में ये लपटें सदा एक-सी निकला करती हैं। मैंने बैठकर घंटों बड़े ध्यान से इन्हें देखा, और बहुत कुछ सोचा-विचारा। अंत में मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि इस स्थान पर नीचे गंधक की खान है। ये लपटें उससे निकली हुई गैस हैं। मंदिर में गंध भी जान पड़ता थी।

ऐसा ही एक स्थान काँगड़ा-ज़िले के नगरोटा-स्टेशन से ३ मील उत्तर है, उसे भी 'दोल मेबर' कहते हैं। पृथ्वी के भीतर से इस प्रकार की ज्वाला निकलने के दो कारण होते हैं—(१) भूमि के नीचे मिट्टी के तेल की खान होती है या (२) गंधक की। यहाँ मैं गंधक की खान के ही पक्ष में हूँ।

चबूतरे के नीचे से जो पानी की धार बहती है, उसमें पासवाली ज्वाला का प्रकाश पड़ता है, जिससे जान पड़ता है कि जल में भी अग्नि की लपटें निकल रही हैं। मुक्तिनाथवासी उसे छुल-मेबर (जल-ज्वाला) कहते हैं। अधिकांश भारतीय तथा नेपाली यात्री भी जल से ज्वाला निकलने में विश्वास करते हैं, किंतु यथार्थ में पास-वाली ज्वाला के प्रकाश के ही कारण ऐसा जान पड़ता है। प्रायः यात्री इस जल-स्रोत के जल को बड़ी श्रद्धा के साथ शीशी में भरकर अपने साथ ले जाते और इसे ज्वालामाई का जल कहते हैं।

ज्वालामाई का मंदिर पत्थरों से बना हुआ है। इसके ऊपर

चारों कोनों में चार स्तंभ तथा बीच में एक बहुत सुंदर गुंबद बना हुआ है। गुंबद का कूट सुवर्णान्वित है। तिब्बती पताके और झंडियाँ लगी हुई हैं। मंदिर के सामने एक लंबे गड्ढे में मंत्र-युक्त बड़ा झंडा फहराया करता है।

आज इस ज्वालामुखी या ज्वालामाई को देखकर मुझे बड़ा संतोष हुआ।

ज्वालामाई के मंदिर से हम लोग अब पीछे लौटे। लामा ने हमें ज्वालामाई और मुक्तिनाथ-मंदिर के बीच में एक छोटे-से गड्ढे को दिखलाकर कहा कि यह पाताल-गंगा है। सब लोग यहाँ भी पैसे चढ़ाते हैं। कान लगाकर पाताल-गंगा के शब्द को सुनते हैं। मैंने भी कान लगाकर सुना, 'गुड़-गुड़'-शब्द हो रहा था, किंतु गड्ढे में जो पानी था, वह निश्चल था। पीछे हमें ज्ञात हुआ कि दामोदर-पर्वत से जो पानी का स्रोत मुक्तिनाथ-मंदिर के पास आता है, उसी से नाली द्वारा एक स्रोत ज्वालामाई के मंदिर में जाता है, और मंदिर से होकर पश्चिम ओर बाहर निकलता है। वही स्रोत यहाँ नीचे-नीचे होकर जाता है, जिसके बहने का शब्द 'गुड़-गुड़' होता है। यह पाताल-गंगा नहीं, प्रत्युत 'माया-गंगा' या 'पैसा-गंगा' है।

वहाँ से हम लोग बेनिड् सिङ् गुंबा देखने गए, और उसे देखकर धर्मशाला वापस आए। आज की रात बहुत कुछ ओढ़ने पर भी जाड़ा लगा। रवि और आत्मा को विशेष जाड़ा लग रहा था। मुझे जब यह ज्ञात हुआ, तब मैंने उन्हें अपना एक और कंबल दे दिया। इस प्रकार उन्हें तीन कंबल हो गए। मैं धर्मालोकजी द्वारा प्रदत्त तिब्बती कोट और टोपी पहनकर, कंबल और ऊनी चादर ओढ़ सो रहा।

एक बार बड़े ज़ोरों की लपट निकली, जान पड़ा कि लामा जल जायँगे। उन्होंने दूसरी बार भी जलाने का प्रयत्न किया, तथापि थोड़ी देर जलकर ही वह बुझ गया।

बने हुए चबूतरे के मध्य भाग में पानी की नाली बहती है। उस नाली के सन्निकट जो ज्वाला उठती है, वह बड़ी तेज़ और ऊँची होती है। लोग उससे मोम-बत्ती, अगर-बत्ती आदि जलाकर भगवान् बुद्ध की पूजा करते हैं। जिन स्थानों से ज्वाला निकलती है, वहाँ पपड़ीदार पत्थर हैं। उन पत्थरों के बीच से ये लपटें सदा एक-सी निकला करती हैं। मैंने बैठकर वहाँ बड़े ध्यान से इन्हें देखा, और बहुत कुछ सोचा-विचारा। अंत में मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि इस स्थान पर नीचे गंधक की खान है। ये लपटें उससे निकली हुई गैस हैं। मंदिर में गंध भी जान पड़ता था।

ऐसा ही एक स्थान काँगड़ा-ज़िले के नगरोटा-स्टेशन से २ मील उत्तर है, उसे भी 'दोल मेबर' कहते हैं। पृथ्वी के भीतर से इस प्रकार की ज्वाला निकलने के दो कारण होते हैं—(१) भूमि के नीचे मिट्टी के तेल की खान होती है या (२) गंधक की। यहाँ मैं गंधक की खान के ही पक्ष में हूँ।

चबूतरे के नीचे से जो पानी की धार बहती है, उसमें पासवाली ज्वाला का प्रकाश पड़ता है, जिससे जान पड़ता है कि जल में भी अग्नि की लपटें निकल रही हैं। मुक्तिनाथवासी उसे छुल-मेबर (जल-ज्वाला) कहते हैं। अधिकांश भारतीय तथा नेपाली यात्री भी जल से ज्वाला निकलने में विश्वास करते हैं, किंतु यथार्थ में पास-वाली ज्वाला के प्रकाश के ही कारण ऐसा जान पड़ता है। प्राय: यात्री इस जल-स्रोत के जल को बड़ी श्रद्धा के साथ शीशी में भरकर अपने साथ ले जाते और इसे ज्वालामाई का जल कहते हैं।

ज्वालामाई का मंदिर पत्थरों से बना हुआ है। इसके ऊपर

चारों कोनों में चार स्तंभ तथा बीच में एक बहुत सुंदर गुंबद बना हुआ है। गुंबद का कूट सुवर्णान्वित है। तिब्बती पताके और झंडियाँ लगी हुई हैं। मंदिर के सामने एक लंबे लट्ठे में नेव-तुके देश का झंडा फहराया करता है।

आज इस ज्वालामुखी या ज्वालामाई को देखकर मुझे बड़ा संतोष हुआ।

ज्वालामाई के मंदिर से हम लोग अब पीछे लौटे। नाम, ने हमें ज्वालामाई और मुक्तिनाथ-मंदिर के बीच में एक छोटे-से गड्ढे को दिखलाकर कहा कि यह पाताल-गंगा है; सब लोग यहाँ भी पैसे चढ़ाते हैं। कान लगाकर पाताल-गंगा के शब्द को सुनते हैं। मैंने भी कान लगाकर सुना, 'गुड़्-गुड़्'-शब्द हो रहा था, किंतु गड्ढे में जो पानी था, वह निश्चल था। पीछे हमें ज्ञात हुआ कि ज्वालामुखी-पर्वत से जो पानी का स्रोत मुक्तिनाथ-मंदिर के पास आता है, उसी से नाली द्वारा एक स्रोत ज्वालामाई के मंदिर में जाता है, और मंदिर में होकर पश्चिम ओर बाहर निकलता है। वही स्रोत यहाँ नीचे-नीचे होकर जाता है, जिसके बहने का शब्द 'गुड़-गुड़' होता है। यह पाताल-गंगा नहीं, प्रत्युत 'साथ-गंगा' या 'देमा-गंगा' है।

वहाँ से हम लोग धंजिड् सिड् गुंबा देखने गए, और उसे देखकर धर्मशाला वापस आए। आज की रात बहुत कुछ ओढ़ने पर भी जाड़ा लगा। रवि और आत्मा को विशेष जाड़ा लग रहा था। मुझे जब यह ज्ञात हुआ, तब मैंने उन्हें अपना एक और कंबल दे दिया। इस प्रकार उन्हें तीन कंबल हो गए। मैं धर्मालोकजी द्वारा प्रदत्त तिब्बती कोट और टोपी पहनकर, कंबल और ऊनी चादर ओढ़ सो रहा।

वापसी

दूसरे दिन प्रातः बड़ी ठंडक थी, उठकर हाथ-मुँह धोना भी मुश्किल था। जब मैं शौच होने बाहर गया, तिब्बती कोट, टोपी, जूता, मोज़ा पहनने पर भी हाथ-पैर ठंडे हो गए। हाथ की उँगलियाँ सिकुड़ गईं।

हमारे श्रमण साथियों में से दो की राय थी कि दामोदर-कुंड और मानसरोवर भी हो आया जाय। यहाँ से दामोदर-कुंड तांगे से होकर जाने पर चार दिन का रास्ता है और मानसरोवर मस्तांग होकर जाने पर केवल २५ दिन का। किंतु मानसरोवर-दर्शन की प्रबल इच्छा होते हुए भी मैं रवि और आत्मा के साथ वहाँ तक जाने में विवश था, क्योंकि मुक्तिनाथ से मानसरोवर जाने के लिये कई एक ऊनी कोट और कंबलों के लेने की आवश्यकता थी। कंबल तो यहाँ मिल जाते, किंतु कोट का प्रबंध होना कठिन था। पैसे भी इतने पर्याप्त न थे कि हम तीनो मानसरोवर जाकर वापस आ सकें। दूसरी बात यह भी थी कि हमारा आधे से अधिक सामान पोखरा में पड़ा हुआ था। अतः मैंने मानसरोवर जाने का विचार किसी दूसरे समय के लिये छोड़ दिया।

आज एक हिंदू साधु का भोजन-दान था। उन्होंने बहुत आग्रह किया था कि उनके भोजन-दान को ग्रहण करके ही हम लोग वापस लौटें। अतः दोपहर में भोजन-दान ग्रहण करके हम लोग पुनः मुक्ति-नाथ-मंदिर, ज्वालामाई आदि का दर्शन कर, दुर्गा लामा को दक्षिणा-स्वरूप कुछ रुपए दे एक बजे पोखरा की ओर लौट पड़े। यद्यपि

चैत्र-रामनवमी के अब केवल सात दिन शेष रह गए थे, किंतु यहाँ अधिक दिनों तक ठहरना हम लोगों के लिये दुष्कर था।

आए हुए मार्ग से ही चलकर भयानक शीतल वायु का मुक़ाबला करते हुए हम लोग ५ बजे झुंगा पहुँच गए, और रात वहीं बिताई। झुंगा से मुक्तिनाथ की ओर सर्वत्र भोट (तिब्बती)-भाषा बोली जाती है। यद्यपि यह प्रदेश नाम-मात्र के लिये नेपाल-सरकार के अधीन है, तथापि इसे भोट ही समझा जाता है; इसमें भोटिया लोगों की ही बस्तियाँ हैं।

१२ एप्रिल को झुंगा से चलकर, क्रमशः घासा, कलाते और कुश्मे में तीन रात वास करके १५ एप्रिल को १२ बजे पोखरा आ गए। हमारे दो अमरु साथियों ने टाटोपानी से वापस होकर तान-सेन जानेवाले मार्ग को पकड़ लिया था; वह मार्ग तानसेन आने के लिये सीधा पड़ता है। किंतु हमारा सामान पोखरा में था, अतः हमें पोखरा वापस आना पड़ा।

१६ एप्रिल को श्वेत गंडक में खूब मल-मलकर स्नान किया, चीवर आदि साफ़ कराया, तथा विश्राम करने में दिन बिताया।

दूसरे दिन भी शाक्यानंदजी तथा वहाँ धर्मशाला के आग्रह से रुकना पड़ा। आज हम लोग फेवा ताल देखने गए। नाव पर चढ़कर ताल में घूमे, और बीच के छोटे टापू को देखा। आज राम-नवमी का दिन था। टापू का छोटा मंदिर निरीह पशुओं के रक्त से लथ-पथ हो गया था। उसे देखकर मुझे घृणा होने लगी, और वह घृणा हो रही थी ऐसे बलि को आश्रय देनेवाले धर्म के प्रति। हमें आश्चर्य हो रहा था कि लोग इतना भी नहीं जानते कि ये पशु भी उन्हीं की भाँति सुख की कामना करनेवाले प्राणी हैं।

संध्या को पोखरा के कर्नल के ज्येष्ठ पुत्र सुभान मिलने आए। उन्होंने बतलाया कि पोखरा की एक स्त्री दो-तीन दिन पूर्व मर गई

थी। उसे लोगों ने मुख में अग्नि-संस्कार करके श्वेत गंडक में बहा दिया था। वह पुनः एक दिन पीछे नदी के किनारे जीवित पाई गई। उन्होंने यह भी कहा कि उस स्त्री को बुलाने के लिये एक आदमी भेजा है।

दूसरे दिन वह स्त्री लाई गई। पूछने पर उसने बतलाया कि एक वृक्ष के नीचे बैठे हुए एक सर्प से उसका शरीर-स्पर्श हो गया था, किंतु उसने डँसा भी था—ऐसा ज्ञात नहीं। सब लोगों ने यह निष्कर्ष निकाला कि सर्प ने उसे डँस लिया था, किंतु वह नहीं जान पाई थी। जब वह शीतल जलवाली श्वेत गंडक में प्रवाहित कर दी गई, तब धीरे-धीरे विष की गर्मी शांत हो गई।

१८ एप्रिल को संघमित्रा अनागारिका की मौसी के घर भोजन का निमंत्रण था। अतः दोपहर में भोजन करके मैंने पोखरा से प्रस्थान किया। अब हमें तानसेन, बुटौल होते हुए कुशीनगर आना था। भदंत शाक्यानंदजी, बहन धर्मशीला और संघमित्रा मेरे साथ पोखरा से २ मील पश्चिम पाली-नामक गाँव तक आए। पोखरा के कुछ आदमी गया जाने के लिये प्रस्थान करके पाली में ही रुके थे, अतः हम लोग भी आज वहीं ठहरे। शाक्यानंदजी आदि सब लोग वहीं रह गए।

दूसरे दिन प्रातः उन लोगों को लौटाकर, विदाई ले मैं आगे बढ़ा। भदंत शाक्यानंदजी भी मेरे साथ तानसेन आना चाहते थे, किंतु धर्मशीला के आग्रह से उनका आना कुछ दिनों तक के लिये स्थगित हो गया। शाक्यानंदजी एक साधना-शील भिक्षु हैं। यह अपने पास एक मनुष्य की खोपड़ी रखते हैं। उसे लेकर नित्य एक गुफा में चले जाते हैं, तथा वहाँ रहकर साधना में दिन व्यतीत करते हैं। यह पाली, बर्मी, हिंदी और गोरखाली-भाषाओं को अच्छी तरह जानते हैं। नेवारी-भाषा तो इनकी मातृभाषा ही है। इन्होंने गोर-

पाली-भाषा में 'लंकावतार-सूत्र'-नामक एक छोटी पुस्तिका का भी प्रकाशन किया है।

पाली से चलकर हम लोगों ने नुवराकोट में भोजन किया, तथा आगे बढ़े। ज्यों ही नुवाकोट की चढ़ाई से नीचे उतरना शुरू किया, मूसलधार वृष्टि होनी प्रारंभ हो गई। हम लोग एक वृक्ष के नीचे गए, और बेडिंग तथा अन्य सामान एक पास रखकर, छाता लगाकर खड़े हो गए। छाता एक ही था। सामान के साथ हम तीनों का पानी में बचना कठिन हो गया। उसी समय आत्मा को शौच जाने की आवश्यकता प्रतीत हुई। जब वह शौच के लिये गया, तब झाड़ी में एक सुंदर कंदरा को देखकर दौड़ा हुआ आया, और हम लोग वहाँ गए। कंदरा बड़ी सुंदर और रमणीय थी। हम लोग जब उसमें सामान रखकर बैठ गए, तब बड़े ज़ोरों से ओला पड़ना शुरू हुआ। क्षण-भर में ही भूमि ओलों से पट गई। वृक्षों की पत्तियाँ टूट-टूटकर भूमि पर बिछ गईं। चारों ओर पानी उमड़ चला। आज हम लोगों की जान पूर्व-जन्म के प्रबल पुण्य संस्कारों के ही प्रताप से बची। यदि आत्मा को शौच जाने की आवश्यकता न हुई होती, और उसने जाकर इस कंदरा को न देखा होता, तो हम तीनों की क्या गति हुई होती? जानकर आश्चर्य होगा कि जब हम लोग कंदरा में चले गए, तब आत्मा के शौच जाने की आवश्यकता भी जाती रही। फिर वह दूसरे दिन शौच गया।

दो घंटे बाद वृष्टि कुछ कम हुई। हमारी हिम्मत आगे बढ़ने की नहीं थी, किंतु रात में रहते कहाँ? अतः वृष्टि-जल से भीगते हुए हम लोग 'पुतली खेत' गए, और वहीं रात में रह गए। पुतली खेत पोखरा से १२ मील है।

२० अप्रिल को पुतली खेत से छः बजे चले। आज हमारे पास का चावल समाप्त हो गया था। चिउरा भी थोड़ा ही था। रास्ते

में हरएक बाज़ार में चावल खरीदना चाहा, किंतु कहीं नहीं मिला। चिउरा या भूजा भी नहीं मिला। मेरे भोजन का समय हो गया था। रवि और आस्मा भी भूख से परेशान हो रहे थे। बाज़ारों में सिगरेट, बीड़ी, शराब के अतिरिक्त दूसरी कोई भी खाने-पीने की वस्तु नहीं थी। हम लोग इस आशा में आगे बढ़ते गए कि शायद अगले गाँव में कुछ मिल जाय, किंतु कुछ नहीं मिला। आगे पर्वत की विकट चढ़ाई भी आ गई। मैदानी मार्ग समाप्त हो गया।

जब मैंने देखा कि हम सब भूख से पीड़ित हो रहे हैं, तब एक उपाय सूझा। हमारे पास बताशी बहुत अवशेष थी। ऊपर पहाड़ी पर एक प्याऊ मिला। वहाँ आग जलाकर चीनी, बताशे और घी से हलुआ बनाने को कहा। हलुआ बनाकर रवि और आस्मा ने खा लिया। मेरे लिये चिंता न थी। कुछ चिउरा पहले खाया था। भूख लगने पर भी हलुआ को कम देख मैंने खाना सर्वथा अस्वीकार कर दिया।

कहावत है—"सत्तू का पेट सोहारी से नहीं भरता।" यद्यपि उन्होंने हलुआ खाया, किंतु उन्हें पूर्ण संतोष नहीं हुआ।

संध्या को हम लोग फूलीभाटी में पहुँचे। इधर गुरुङ्-भाषा बोली जाती है। तामंग लोगों के भी कुछ घर हैं। हम लोग एक तामंग के घर ठहरे। आज रात में चाय पीकर मैंने भूख मिटाई। आस्मा तथा रवि को तो भरपेट भोजन मिला।

२१ एप्रिल को वहाँ से चलकर, काली गंडक-नदी को पार कर 'धर्मशाला' में दोपहर में भोजन किया, और अपराह्न में दो बजे तानसेन के बौद्ध-विहार में पहुँच गए।

तानसेन

तानसेन एक छोटा सुंदर नगर है, जो इस इलाके का प्रधान नगर है। पोखरा से आनेवालों को यह पर्वत के नीचे खुले मैदान में जान पड़ता है, किंतु जो लोग बुटौल से आते हैं, उन्हें ऊँची पहाड़ी पर। यह उपत्यका बड़ी ही रमणीय और स्वास्थ्य प्रद है। यहाँ का जल-वायु अच्छा है। लोग पं र और स्वस्थ होते हैं।

यहाँ की जन-संख्या ५ हज़ार से अधिक है। घर प्रायः पक्के और आधुनिक ढंग से बने हुए हैं। यहाँ अधिकांश घरों की छाजन टीन से हुई है, जो दूर से देखने पर बहुत सुंदर लगती है। नगर घना बसा हुआ है। पानी की नलें लगी हुई हैं। सड़कें पक्की और सुव्यवस्थित हैं।

तानसेन में जो नेवार-जाति के लोग रहते हैं, वे सब कांतिपुर, पाटन, भातगाँव आदि नेपाल-उपत्यका के नगरों से आकर यहाँ बस गए हैं। इनका खान-पान, रीति-रिवाज सब नेपाल-जैसा है। ये सब लोग व्यापार-कार्य करते हैं। तानसेन में नमक, तेल, कपड़ा, सिगरेट, गाँजा आदि का व्यापार प्रधान रूप से होता है। तानसेन के व्यापार का संबंध बाग्लुङ, पोखरा, बुटौल आदि नगरों से है। तानसेन नगर का बाज़ार सदा व्यापारियों की भीड़ से भरा रहता है। बुटौल, पोखरा, बाग्लुङ से माल लेकर सर्वदा व्यापारी आया-जाया करते हैं।

तानसेन में सूती कपड़ा और बर्तन विशेष रूप से बनते हैं। यहाँ के पाल्पाली हुक्का करवा (गोमीदार लो ा) कटारा और

ा, एक नवीन हाई स्कूल तथा पुराने ढंग की
तानसेन-प्रदेश की छावनी यहीं है, जिसमें एक
एक क़ाज़ी रहते हैं। कांतिपुर की भाँति यहाँ भ

तानसेन के बुद्ध-विहार की मूर्ति
[भगवान् बुद्ध शृगाल गृहपति को उपदेश दे रहे

ोप की आवाज़ होती है। यहाँ की टकसार में तो
जाता है।

तानसेन से ४ मील की दूरी पर प्रसिद्ध ऐतिहासिक पाल्पा नगर है, किंतु आजकल तानसेन की ही गणना प्रथम होती है। तानसेन उत्तरोत्तर उन्नति के पथ पर अग्रसर होता हुआ दिखाई दे रहा है। तानसेन में बौद्धों की संख्या बहुत अधिक है। दो नवीन विहार भी हैं, जो प्राचीन विहारों के स्थान पर ही बने हैं। टकसार और भीमसेन टोल में दो चैत्य भी हैं।

हमें यह जानकर खेद हुआ कि यहाँ के मित्र-बान्धवों के नेवारी लोग अपनी भाषा बोलने में लज्जा मानते हैं। वे अब गोरखाली-भाषा को ही अपनी मातृभाषा समझने लगे हैं। किंतु उनके लिये नेपाल की सर्वश्रेष्ठ भाषा को, जो उनकी मातृभाषा है, त्यागना लज्जा की बात है। उन्हें अपनी इस प्रवृत्ति को छोड़कर नेवारी के ही उत्थान में सहयोग देना चाहिए, जिससे वे बौद्ध-संस्कृति और धर्म के धनी बने रहें।

× × ×

हम लोग जिस समय विहार में पहुँचे, उस समय सुशीला अनागारिका ने आतिथ्य-सत्कार में कोई कोर-कसर न उठा रक्खी। वह पूर्व-परिचित थी, और थी हमारे गुरुजी की शिष्या। उसे भी हमारे तानसेन पहुँचने की खबर कई सप्ताह पहले से मिल चुकी थी।

रवि को सुशीला से मिलकर बड़ी प्रसन्नता हुई, क्योंकि वह रवि की फुआ (मा की बहन) है। वह बहुत चाहती कि हम लोग वैशाख-पूर्णिमा तक वहाँ रहें, किंतु हमें उतना अवकाश कहाँ? नगर से बहुत-से उपासक भी आए, और प्रार्थना की कि मैं यदि वैशाख-पूर्णिमा तक न रह सकूँ, तो कम-से-कम एक ही सप्ताह रहना समुचित होगा। मैंने उन लोगों को धैर्य धारण करा, दूसरे दिन प्रातः जल-पान कर तानसेन से बुटौल के लिये प्रस्थान कर दिया।

य, एक नवीन हाई स्कूल तथा पुराने ढंग की
तानसेन-प्रदेश की छावनी यहीं है, जिसमें एक
एक क़ाज़ी रहते हैं। कातिपुर की भाँति यहाँ भ

तानसेन के बुद्ध-बिहार की मूर्ति
[भगवान् बुद्ध शृगाल गृहपति को उपदेश दे रहे

ोप की आवाज़ होती है। यहाँ की टकसार में तं
जाता है।

तानसेन से ४ मील की दूरी पर प्रसिद्ध ऐतिहासिक पाल्पा नगर है, किंतु आजकल तानसेन की ही गणना प्रथम होती है। तानसेन उत्तरोत्तर उन्नति के पथ पर अग्रसर होता हुआ दिखाई दे रहा है। तानसेन में बौद्धों की संख्या बहुत अधिक है। दो नवीन विहार भी हैं, जो प्राचीन विहारों के स्थान पर ही बने हैं। टकसार और भीमसेन टोल में दो चैत्य भी हैं।

हमें यह जानकर खेद हुआ कि यहाँ के मिलन-घरों के नेवारी लोग अपनी भाषा बोलने में लज्जा मानते हैं। वे अब गोरखाली-भाषा को ही अपनी मातृ-भाषा समझने लगे हैं। किंतु उनके लिये नेपाल की सर्वश्रेष्ठ भाषा को, जो उनकी मातृभाषा है, त्यागना लज्जा की बात है। उन्हें अपनी इस प्रवृत्ति को छोड़कर नेवारी के ही उत्थान में सहयोग देना चाहिए, जिससे वे बौद्ध-संस्कृति और धर्म के धनी बने रहें।

× × ×

हम लोग जिस समय विहार में पहुँचे, उस समय सुशीला अनागारिका ने आतिथ्य-सत्कार में कोई कोर-कसर न उठा रक्खी। वह पूर्व-परिचित थी, और थी हमारे गुरुजी की शिष्या। उसे भी हमारे तानसेन पहुँचने की खबर कई सप्ताह पहले से मिल चुकी थी।

रात्रि को सुशीला से मिलकर बड़ी प्रसन्नता हुई, क्योंकि वह रवि की फुआ (माँ की बहन) है। वह बहुत चाहती कि हम लोग वैशाख-पूर्णिमा तक वहाँ रहें, किंतु हमें उतना अवकाश कहाँ ? नगर से बहुत-से उपासक भी आए, और प्रार्थना की कि मैं यदि वैशाख-पूर्णिमा तक न रह सकूँ, तो कम-से-कम एक ही सप्ताह रहना समुचित होगा। मैंने उन लोगों को धैर्य धारण करा, दूसरे दिन प्रातः जल-पान कर तानसेन से बुटौल के लिये प्रस्थान कर दिया।

बुटौल

तानसेन से बुटौल १४ मील दक्षिण है। हम लोग तानसेन से उतरकर एक स्रोत के किनारे-किनारे 'डुमरे' तक आए। वहाँ तक मार्ग स्वच्छ और चौड़ा बना हुआ है। आगे ऊँची पहाड़ी चढ़नी पड़ती है, इसलिये हम लोगों ने वहीं भोजन कर लिया।

भोजनोपरांत अगली पहाड़ी पर चढ़कर उतरते हुए ५ बजे बुटौल पहुँच गए। बुटौल के बुद्ध-विहार में सुबोधानंदजी, महानंदा अनागारिका और कई एक उपासक थे। उन्होंने हम लोगों को आते हुए देखकर बड़ी प्रसन्नता के साथ स्वागत किया, और विहार की ऊपरी मंज़िल में ले गए। भदंत सुबोधानंदजी से बहुत दिनों पर भेंट हुई थी, अतः हम दोनो को मिलकर विशेष प्रसन्नता हुई।

यह विहार नवीन बना हुआ है। बुटौल के सब उपासकों ने मिलकर इसे बनवाया है। विहार के निचले भाग में बुद्ध-मंदिर और ऊपरी भाग में पुस्तकालय के साथ भिक्षुओं के रहने का स्थान है। विहार के प्रांगण में संगमरमर का बना हुआ एक छोटा चैत्य है। चैत्य बड़ी सुंदरता के साथ बना हुआ है। प्रति पूर्णिमा, अमावस्या और अष्टमी को बुटौल की उपासक-उपासिकाएँ यहाँ एकत्र होकर बुद्ध-मूर्ति और चैत्य की पूजा करती हैं। शील ग्रहण करती तथा उपदेश सुनती हैं। इस विहार के निर्माता-उपासकों में उपासक रत्नमुनि प्रधान हैं। उपासिका लानी माया ने भी विहार-निर्माण में बहुत धन व्यय किया है।

उपोशथ के दिन जब सब लोग एकत्र होते हैं, तब हिंदू तरुण भी यहाँ आते और सब मिलकर बाजे के साथ बुद्ध-गुण-कीर्तन करते

बड़े अच्छे ढंग से होता है। कीर्तन में लड़कियाँ भी
होती हैं। बुटौल में कीर्तन का प्रचार हिन्दुओं के देखे
को देखकर हुआ है। बुटौल में बुद्ध-भजन के साथ यह
। है—

बुटौल का चैत्य

म्, नारे माम, पंचबुद्ध, श्रीभगवान्;
; श्रीभगवान्, श्रीश्रीपंच, बुद्ध भगवान्;
न्, बुद्ध भगवान्, जय श्रीबुद्ध, पंच भगवान्;
र्, पंच भगवान्, जय-जय शास्ता, श्रीभगवान्।
नाथ-नदी के दाएँ किनारे-पर बसा हुआ है। यह
प्रांत में मधेश के खुले मैदान में स्थित है, किंतु छोटी
पास होने से इन दिनों यहाँ बड़ी गर्मी पड़ती है।
गे अधिकांश लोग दूसरे स्थानों में चले जाते हैं, और
सने पर आते हैं।

बुटौल एक बहुत अच्छा बाज़ार है। यहीं से तानसेन, पोखरा आदि नगरों को विदेशी तथा भारतीय माल भेजे जाते हैं। माल सदा भरियों द्वारा ढोया जाता है। नौतनवा से बुटौल तक मोटरकार और बसें चलती हैं। इसलिये जो विदेशी या भारतीय माल ट्रेन द्वारा नौतनवा आता है, उसे मोटर द्वारा बुटौल तक लाते हैं, और यहाँ से भरियों द्वारा भीतर के नगरों को भेजते हैं।

यद्यपि बुटौल एक प्रसिद्ध व्यापारिक क़स्बा है, किंतु इतना गंदा है कि सड़कों पर चलते समय नाक पर बिना कपड़ा लगाए चलना कठिन होता है। मच्छड़ों का तो यहाँ गजब है। बुटौल-वासी तिनाव-नदी का पानी पीते हैं, उसी में स्नान और किनारे बैठकर शौच भी करते हैं, जिससे चारो ओर गंदगी फैली रहती है। यही कारण है कि प्रतिवर्ष गर्मियों में यहाँ हैज़ा हो जाता है, तथा सैकड़ों आदमी बेमौत मर जाते हैं। यदि क़स्बे की सफ़ाई का समुचित प्रबंध हो, कोई भी नदी के किनारे शौच न करने पाए, स्थान-स्थान पर पाख़ाने बन जायँ, तो बुटौल एक सुंदर और रमणीय क़स्बा बन जाय।

बुटौल में भारतीय व्यापारियों की भी दूकानें हैं। यहाँ बहुत-से मुसलमान भी रहते हैं। सब व्यापार करने के हेतु ही यहाँ आए हुए हैं।

बुटौल में एक छोटा अस्पताल और मिडिल स्कूल भी है।

बुटौल से मैं दूसरे ही दिन प्रस्थान करना चाहता था, किंतु उस दिन पूर्णिमा थी। चंद्रग्रहण होनेवाला था, इसलिये बुटौल-वासी उपासकों का आग्रह था कि मैं २३ एप्रिल को भी वहीं रहूँ। ज्ञान-देवी और सुबोधानंदजी के आग्रह को न टाल सका। दूसरे दिन हम लोगों ने तिनाव नदी में जाकर स्नान किया। आज संध्या को मंदिर में विशेष पूजा हुई। मुझे उपदेश भी देना पड़ा। उपदेश के

समय बुटौल के सभी उपासक-उपासिकाएँ आई हुई थीं। बुटौल में कोई १५ घर बौद्धों के हैं, और शेष हिंदुओं तथा मुसलमानों के। उपदेश के समय मुसलमानों के अतिरिक्त अन्य सभी उपस्थित थे। काफ़ी भीड़ थी।

२४ एप्रिल को रत्नमुनि उपासक के घर दान था। रत्नमुनि दो सप्ताह से कहीं बाहर गया हुआ था, किंतु उसकी धर्मपत्नी ने बड़े प्रेम के साथ निमंत्रित करके भोजन कराया। हाँ, मैं यह कहना भूल गया कि अनागारिका महानंदी रत्नमुनि की मा है, जो कुछ वर्षों से दस शील का पालन करती हुई अनागारिका-जीवन व्यतीत करती है।

भोजनोपरांत हम लोग तिनाव पार करके 'बस-स्टैंड' पर गए, और सबसे बिदाई ले मोटरकार द्वारा नौतनवा के लिये चल पड़े।

बुटौल एक बहुत अच्छा बाज़ार है। यहाँ से तानसेन, पोखरा आदि नगरों को विदेशी तथा भारतीय माल भेजे जाते हैं। माल सदा भरियों द्वारा ढोया जाता है। नौतनवा से बुटौल तक मोटरकार और बसें चलती हैं। इसलिये जो विदेशी या भारतीय माल ट्रेन द्वारा नौतनवा आता है, उसे मोटर द्वारा बुटौल तक लाते हैं, और यहाँ से भरियों द्वारा भीतर के नगरों को भेजते हैं।

यद्यपि बुटौल एक प्रसिद्ध व्यापारिक क़स्बा है, किंतु इतना गंदा है कि सड़कों पर चलते समय नाक पर बिना कपड़ा लगाए चलना कठिन होता है। मच्छड़ों का तो यहाँ राज्य है। बुटौल-वासी तिनाव-नदी का पानी पीते हैं, उसी में स्नान और किनारे बैठकर शौच भी करते हैं, जिससे चारो ओर गंदगी फैली रहती है। यही कारण है कि प्रतिवर्ष गर्मियों में यहाँ हैज़ा हो जाता है, तथा सैकड़ों आदमी बेमौत मर जाते हैं। यदि क़स्बे की सफ़ाई का समुचित प्रबंध हो, कोई भी नदी के किनारे शौच न करने पाए, स्थान-स्थान पर पाखाने बन जायँ, तो बुटौल एक सुंदर और रमणीय क़स्बा बन जाय।

बुटौल में भारतीय व्यापारियों की भी दूकानें हैं। यहाँ बहुत-से मुसलमान भी रहते हैं। सब व्यापार करने के हेतु ही यहाँ आए हुए हैं।

बुटौल में एक छोटा अस्पताल और मिडिल स्कूल भी है।

बुटौल से मैं दूसरे ही दिन प्रस्थान करना चाहता था, किंतु उस दिन पूर्णिमा थी। चंद्रग्रहण होनेवाला था, इसलिये बुटौल-वासी उपासकों का आग्रह था कि मैं २३ एप्रिल को भी वहीं रहूँ। ज्ञान-देवी और सुबोधानंदजी के आग्रह को न टाल सका। दूसरे दिन हम लोगों ने तिनाव नदी में जाकर स्नान किया। आज संध्या को मंदिर में विशेष पूजा हुई मुझे उपदेश भी देना पड़ा। उपदेश के

समय बुटौल के सभी उपासक-उपासिकाएँ आई हुई थीं। बुटौल में कोई १५ घर बौद्धों के हैं, और शेष हिंदुओं तथा मुसलमानों के। उपदेश के समय मुसलमानों के अतिरिक्त अन्य सभी उपस्थित थे। काफ़ी भीड़ थी।

२४ एप्रिल को रत्नमुनि उपासक के घर दान था। रत्नमुनि दो सप्ताह से कहीं बाहर गया हुआ था, किंतु उसकी धर्मपत्नी ने बड़े प्रेम के साथ निमंत्रित करके भोजन कराया। हाँ, मैं यह कहना भूल गया कि अनागारिका महानंदी रत्नमुनि की मा है, जो कुछ वर्षों से दस शील का पालन करती हुई अनागारिका-जीवन व्यतीत करती है।

भोजनोपरांत हम लोग तिनाव पार करके 'बस-स्टैंड' पर गए, और सबसे बिदाई ले मोटरकार द्वारा नौतनवा के लिये चल पड़े।

तथागत की जन्म-भूमि—लुंबिनी

बुटौल से नौतनवा २२ मील दक्षिण है। हमारी मोटरकार मधेश के जंगलों से निकलकर मैदान में दौड़ने लगी, और थोड़ी ही देर में भैरहवा पहुँच गई। किंतु भैरहवा से आगे बढ़ने पर एंजिन फ़ेल हो गया, और लाख प्रयत्न करने पर भी मोटर आगे नहीं जा सकी। फलतः हम लोगों को वहाँ से ५ मील पैदल चलकर, नेपाल-राज्य की सीमा को पार कर संध्या के समय नौतनवा पहुँचना पड़ा। नौतनवा में अपनी धर्मशाला है, जो है स्टेशन के पास ही; वहाँ हम लोग गए।

यद्यपि मैं नौतनवा और कपिलवस्तु से होकर लुंबिनी चार बार जा चुका था, और अभी २६ दिसंबर को ही महारानी विजयनगरम् के साथ वहाँ गया था, किंतु आस्मा और रवि की लुंबिनी-दर्शन की प्रबल इच्छा थी। अतः दूसरे दिन प्रातःकाल लुंबिनी चलने की तैयारी करके सो रहे।

२५ एप्रिल को नौतनवा में ही सारा सामान छोड़कर लुंबिनी चल पड़े। इन दिनों नौतनवा में बड़े ज़ोरों का हैज़ा फैला हुआ था, अतः हम लोगों ने नौतनवा में खाने-पीने की किसी वस्तु को नहीं लिया। नौतनवा से लुंबिनी जानेवाले प्रत्येक यात्री को नौतनवा में ही खाने-पीने की वस्तुओं को लेना होता है। गत दिसंबर मास में जब मैं घोड़े पर बैठकर लुंबिनी गया था, तब १२ बजे लुंबिनी पहुँचा था। किंतु आज हम लोग पैदल चलकर ६ बजे ही लुंबिनी पहुँच गए। पहले नेपाल-सरकार द्वारा निर्मित धर्मशाला में गए, और भोजन करके थोड़ी देर विश्राम किया। यहाँ यात्रियों के

खाने-पीने की सारी सामग्रियाँ नेपाल-सरकार की ओर से दी जाती हैं, जिसका प्रबंध खुनवाई गाँव के श्रीशम्भु चौधरी करते हैं।

तथागत की पवित्र जन्म-भूमि में पहुँचकर विशेष संतोष हुआ। वह स्थान—जिसकी तथागत ने स्वयं प्रशंसा की थी, और कहा था कि जो कोई उपासक, उपासिका, भिक्षु या भिक्षुणी लुंबिनी-स्थित चैत्य की चारिका करते हुए प्रसन्न मन से काल करेगा, वह सुगति को प्राप्त होकर स्वर्ग-लोक में उत्पन्न होगा—किसी भी बौद्ध-धर्मावलंबी के लिये पूज्य, दर्शनीय और संवेगोत्पादक है।

प्राचीन काल में यह स्थान शाक्य जनपद का एक रमणीय शालोद्यान था, जहाँ उन महाबोधिसत्व का जन्म हुआ, जिन्होंने उत्पन्न होते ही सात पद उत्तर-दिशाभिमुख होकर जाते हुए महासिंहनाद किया, महागर्जना की। उन्होंने ऐसी दहाड़ दहाड़ी कि दससहस्री चक्रवाल की लोकधातु काँप उठी—

(१) अग्गो हमस्मि लोकस्स = मैं लोक का अग्र हूँ।
(२) जेट्ठो हमस्मि लोकस्स = मैं लोक का ज्येष्ठ हूँ।
(३) सेट्ठो हमस्मि लोकस्स = मैं लोक का श्रेष्ठ हूँ।
(४) अयमन्तिमा जाति = यह मेरा अंतिम जन्म है।
(५) नत्थिदानि पुनब्भवो = फिर जन्म लेना नहीं है।

उस समय वायु का बहना रुक गया। पक्षी नीड़ों में जा छिपे। नदियों की धाराएँ रुक गईं; न फलनेवाले वृक्ष फलों से लद गए। अपुष्पक वृक्ष फूल उठे। गूँगे बोलने लगे। बधिरों के कान खुल गए। समुद्र सतवर्णी के पद्म-पुष्पों से पुष्पित हो गया—

"उत्पन्न होने के समय जिनके कँपा सब लोक था;
फैला जगत में शुभ सुमंगल विपुलतम आलोक था।
धारा प्रवाहित रुक गई, नदियाँ हुईं बिन धार की;
जलती, धधकती लपटमय निरयाग्नि उस क्षण छार की।

सब पक्षियाँ निज नीड़ में बैठीं, फुदकना बंद था ;
शुभ वायु का बहना रुका, रव संचरण भी मंद था।
सब रत्न हीरे लाल मणि थे पूर्ण नव आभास से ;
चलते हुए जब सप्तपद बोले वचन उल्लास से।
मैं अग्र हूँ, मैं ज्येष्ठ हूँ, समता-रहित तारक तरण ;
मैं बुद्ध, जग यौधेय्य हूँ, मैं मुक्त, मोचक धी-करण।"

यही नहीं, उन्होंने उत्पन्न होने के क्षण ही इंद्र के समान सम-पदों से पृथ्वी को स्पर्श किया, श्वेत छत्र को धारण किया, ब्रह्मा के साथ सात पद चले, और चारों दिशाओं का अवलोकन करते हुए, पर्वत-शिखर पर स्थित सिंह के समान अष्ट-स्वर-संपन्न ('अग्गो हमस्मि' आदि) वचन बोले।

यह सुप्रसिद्ध स्थान उस समय बहुत ही रमणीय और प्राकृतिक सौंदर्य से पूर्ण था। इस स्थान की गरिमा का वर्णन कर लेखक तथा कवि अपने को धन्य समझते हैं। चीनी यात्री भिक्षु फ़ाहियान और श्यूआन्-चुआङ् ने भी इसका बड़ा सुंदर वर्णन किया है, और उस समय किया है, जिस समय भारत में बौद्ध-धर्म की चिंतनीय अवस्था थी। संस्कृत के कवि क्षेमेंद्र ने अपने ग्रंथ 'नामप्रकाश' में कैसा मनोहर वर्णन किया है, पढ़कर चित्त फूला नहीं समाता। पाली-ग्रंथ तो ऐसे वर्णनों से भर ही पड़े हैं।

संप्रति लुंबिनी के विस्तृत खँडहर के वक्षःस्थल पर मंदिर और अशोक-स्तंभ ही अवशेष हैं। लुंबिनी का वर्तमान नाम भी रुम्मिन-देई है, जो लुंबिनीदेवी का रूपांतर है। भारत की ग्रामीण जनता काली, भवानी, शीतला, हवहिया, निकसारी, बाइसी, दुर्गा आदि न-जाने कितनी देवियों को मानती और पूजती है। वस्तुतः खँडहर पड़े लुंबिनी-शालोद्यान का देवी-स्थान होना इन्हीं प्रवृत्तियों का द्योतक है।

मंदिर अत्यंत प्राचीन है। कहते हैं, इसे अशोक सम्राट् ने बनवाया था। मंदिर में महामाया देवी की एक प्रस्तर-मूर्ति है, जो शाल की शाखा पकड़े खड़ी है। सिद्धार्थकुमार का जन्म हो गया है। वह दाहनी ओर भूमि पर खड़े हैं। चारों महाब्रह्मा-पाँच राजाओं के आभूषण धारण किए हैं। मूर्ति ६ फ़ीट ऊँची है। कुछ वर्ष पूर्व यह स्थान बिलकुल ईंट-पत्थर, धूल-मिट्टी से भरा पड़ा था। उस समय नेपाल देशवासी एक व्यक्ति ने उन्हें हटाकर इस मंदिर का उद्धार किया। आएदिन नेपाल-सरकार की देख-रेख में इसकी मरम्मत हुआ करती है। नेपाल-राज्य की ओर से एक ब्राह्मण पुजारी पूजा आदि करने के लिये सर्वदा यहाँ रहता है। इस बौद्ध-मंदिर के लिये तो एक बौद्ध भिक्षु का होना आवश्यक था। क्या नेपाल-सरकार इस पर विचार करेगी, और किसी बौद्ध भिक्षु को रक्खेगी? इस मंदिर पर नेपाल के ही बौद्धों का अधिकार होना चाहिए, और भिक्षु भी यदि नेपाली रक्खा जाय, तो ठीक होगा।

अशोक-स्तंभ मंदिर से पश्चिम ओर नीचे भूमि की सतह में कुछ ऊँचाई पर है। राजा अशोक अपने राज्य-काल के इक्कीसवें वर्ष में इस स्थान पर आए थे। शिला-स्तंभ पर लिखे 'हिद बुधे जाते सक्य-मुनीति' (अर्थात् यहाँ शाक्यमुनि बुद्ध उत्पन्न हुए।) आदि से इस स्थान के विषय में कोई संदेह नहीं। स्तंभ बहुत ऊँचा और गोल है। आज भी इसकी भव्यता ज्यों-की-त्यों देख पड़ती है। स्तंभ पर दूर अतीत में बिजली गिर जाने से सिर का चिह्न टूट गया है, और काफ़ी नीचे तक स्तंभ फट गया है, किंतु लेख को किसी प्रकार का आघात नहीं पहुँचा है। स्तंभ पर ऊपर की ओर पाँच पंक्ति का ब्राह्मी अक्षरों में यह लेख खुदा हुआ है—

(१) देवान पियेन पियदसिन लाजिन वीसतिवसाभिसितेन

(२) अतन आगाच महीयिते [।] हिद बुधे जाते सक्यमुनीति

(३) सिलाविगडभीचा कालापित सिलाथभे च उसपापिते [।]

(४) हिद भगवं जातेति लुंमिनिगामे उबलिके कटे
(५) अठभागिये च [।]

भावार्थ—देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने राज्याभिषेक के २० वर्ष बाद स्वयं यहाँ आकर (इस स्थान की) पूजा की। यहाँ शाक्य-मुनि बुद्ध का जन्म हुआ था, इसलिये यहाँ पत्थर की एक प्राचीर स्थापित की गई, और पत्थर का एक स्तंभ खड़ा किया गया। यहाँ भगवान् जन्मे थे, इसलिये लुंबिनी ग्राम का कर उठा दिया गया, और (उपज का) आठवाँ भाग भी (जो राजा का हक़ था) उसी ग्राम को दे दिया गया।

स्तंभ की दीर्घता और गुरुता को देखकर आश्चर्य होता है कि यहाँ यह कैसे आया होगा ?

मंदिर के पास ही दक्षिण ओर एक पुष्करिणी है। कहते हैं, जिस समय सिद्धार्थकुमार का जन्म हुआ, उस समय जल-कृत्य के लिये आकाश से दो जल-धाराएँ गिरीं, जिनसे जल-कृत्य किया गया। उसी के स्मरणार्थ यह बनी थी। बाद में अनेक राजाओं ने समय-समय पर इसकी मरम्मत कराई।

लुंबिनी आनेवाले यात्रियों को मंदिर और स्तंभ से थोड़ी दूर पर उत्तर और दक्षिण की ओर दो स्तूप दिखाई देते हैं। किंतु ये स्तूप नहीं हैं, और ये प्राचीन भी नहीं, इनका निर्माण आज से लगभग १५ वर्ष पूर्व एक पंजाबी इंजीनियर श्रीकुलचंद्र ने कराया था। खुदाई के समय जो मिट्टी निकाली गई, वह इन स्थानों में रखकर स्तूपाकार में परिवर्तित कर दी गई। श्रीकुलचंद्रजी का विचार था कि वह इन पर खुदाई और लुंबिनी-जीर्णोद्धार का विस्तृत विवरण लिखाएँगे। किंतु उनकी इच्छाएँ सदा के लिये जाती रहीं, जब कि वह संवत् १९९० के भूकंप में टूटे हुए नेपाल के राजभवन की मरम्मत कराते समय इस लोक से चल बसे।

जिस समय नेपाल-सरकार ने इस स्थान की खुदाई कराई, उस समय यहाँ अनेक सुवर्ण, रजत, काँसे, पत्थर और मिट्टी से बनी, पकाई हुई भगवान् की मूर्तियाँ मिलीं, जो बहुत सुंदर हैं। दर्शकों और यात्रियों के अवलोकनार्थ कुछ स्थानीय धर्मशाले में भी रक्खी गई हैं। अवशेष नेपाल-सरकार के पुरातत्त्व-विभाग के पास काठमांडू के संग्रहालय में सुरक्षित हैं।

मंदिर के चारों ओर दूर-दूर तक प्राचीन विहारों के खँडहर पड़े हुए हैं। इनके खनन-कार्य की अत्यंत आवश्यकता है। क्या नेपाल-सरकार इसका पूर्ण खनन-कार्य कराएगी?

हम लोगों ने मंदिर में जाकर धूप-बत्ती और मोम-बत्ती जलाई, पूजा की, और उस तथागतकी जन्म-भूमि को प्रणाम कर ४ बजे मौतनवा लौट आए।

परिनिर्वाण-भूमि—कुशीनगर

लुंबिनी से कपिलवस्तु सीधे पश्चिम १२ मील
चार हुआ कि आस्मा और रवि को कपिलवस्तु
ना लाऊँ, किंतु पैदल न चलकर ट्रेन द्वारा सुहग
यपि मैं कपिलवस्तु पहले दो बार जा चुका था, प
शन की उत्कट अभिलाषा थी।

कुशीनगर का परिनिर्वाण-स्तूप तथा मं

नौतनवा से सुहरतगढ़ जाने के लिये तैयार हु
को बड़े ज़ोरों का बुख़ार हो आया। अतः हमें का
संकल्प छोड़ देना पड़ा। रात की ट्रेन से हम लोगों
लिये प्रस्थान किया। गोरखपुर में पहुँचकर आस्म
भी बढ़ गया। उसके बीमार होने से मुझे बड़ी चिं

पैदल चलना नहीं था, और न सामान ही ढोना था। गोरखपुर शहर में गया, रवि के लिये कुछ सामान खरीदा, और भोजन करके एक बजे तथागत की परिनिर्वाण-भूमि तथा अपने जन्म-स्थान पर पहुँच गया।

आज कुशीनगर का वायु-मंडल अपेक्षाकृत प्रसन्न दीख रहा था। विहार-वासी भिक्षु, अनागारिकाएँ तथा स्कूल के छात्र स्वागत में जुटे। मैं बस से उतरकर कुछ फल आदि लिए गुरुवर को प्रणाम करने गया। उन्होंने नेपाल के बौद्ध-धर्म और मुक्तिनाथ के ज्वालामुखी के संबंध में बड़ी देर तक बातें कीं। तत्पश्चात् मैं परिनिर्वाण-मंदिर गया, तथा भगवान् की पूजा कर विहार लौटा।

बुद्धं सरणं गच्छामि।
धम्मं सरणं गच्छामि।
संघं सरणं गच्छामि।

लाइब्रेरी-संस्थापक स्थायी ग्राहकों के नियम

१. एक रुपया प्रवेश फ़ीस जमा करने पर स्थायी ग्राहकों में नाम लिख लिया जाता है।

२. स्थायी ग्राहक बनने पर १५% कमीशन अपनी प्रकाशित पुस्तकों पर, ६¼% बाहरी पर, व माल पहुँचता हुआ दिया जायगा। अर्थात् १५% के क़रीब जो डाक-व्यय व पेकिंग आदि होता है, वह कार्यालय ही देगा।

३. हमारे कन्वेसर भारत-भर में घूमा करते हैं, उनसे भी १५% कमीशन ग्राहक को मिल सकता है।

४. स्थायी ग्राहकों को नई प्रकाशित पुस्तकों के मूल्य, विवरण आदि की सूचना (सूचना-पत्र) भेजी जाती है। इसके २० दिन ये पुस्तकें वी० पी० द्वारा भेज दी जाती हैं। [५)-६) का ३-४ पुस्तकों का सेट भेजा जाता है। हिंदी-प्रेमियों के लिये यह कोई बड़ी रक़म नहीं है।]

५. नई पुस्तकों में से यदि कोई पुस्तक या सब न लेनी हों, अथवा कोई अन्य पुस्तकें मँगानी हों, तो सूचना-पत्र मिलते ही हमें लिख भेजना चाहिए, ताकि इच्छानुसार कार्यवाही कर सकें। १५ दिन तक कोई उत्तर न मिलने पर आपकी स्वीकृति समझ, पुस्तकें वी० पी० द्वारा भेज दी जायँगी।

६. स्थायी ग्राहक जिस पुस्तक को जब वह चाहें लें या न लें, पर अनुरोध है कि साल-भर में कम-से-कम १०) की पुस्तकें लेकर हिंदी-साहित्य-प्रचार में हमारी सहायता करें।

७. स्थायी ग्राहकों को वी० पी० न लौटने देने का प्रयत्न करना चाहिए।

८. स्थायी ग्राहकों को चाहिए कि समय-समय पर हमें लिखते रहें कि कौन-कौन विषय उन्हें प्रिय हैं, ताकि वैसी ही पुस्तकें हम उनको छाप कर दें।

मैनेजर, गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय, लखनऊ